मोक्षमार्ग के सन्दर्भ में निमित्त का स्वरूप

§ २.१ निमित्त–उपादान–विशयक सही समझ —— मोक्षमार्ग में अनिवार्य

अज्ञानता के कारण निमित्त–उपादान का विषय आधुनिक समय में एक विवादास्पद विषय माना जाता रहा है। यह सर्वमान्य है कि मोक्षमार्ग में शुरुआत करने के लिये वस्तु–तत्त्व के सम्यक् निर्णय तक पहुँचना नितान्त आव यक है। चूँकि **हमारी वर्तमान अवस्था, हमारी विकारी/वैभाविक पर्याय 'स्व–पर–सापेक्ष' है** *(नियमसार, गाथा १४–१५)* —— स्व–सापेक्षता के साथ–साथ पर–सापेक्षता को भी लिये हुए है —— अतः निमित्त के विषय की सही समझ, 'निमित्त का उपादान से क्या सम्बन्ध है' इस बात की सही जानकारी मोक्षमार्ग के सन्दर्भ में अनिवार्य है।

इस विशय–सम्बन्धी उन सभी पहलुओं पर विचार करना उचित होगा जो कि प्रासंगिक (relevant) हैं। किसी पक्ष–विशेष के आग्रह से मुक्त रहकर हम इस प्रकार विचार/विश्लेषण करें कि उस विश्लेषण के फलस्वरूप इस विषय पर बनी हमारी समझ जीवन के किसी भी स्थल पर प्रत्यक्ष से, अनुभव से बाधित न हो।

प्रस्तुत विशय का एक महत्त्वपूर्ण पहलू निमित्त को कर्ता मानने का है। इस पहलू पर विचार करने से पहले हमें समझना होगा कि लोक–व्यवहार में निमित्त के कर्तापने की भाषा —— उपचार की भाषा —— काम में लाई जाती है। बचपन से वही भाषा बोलते और सुनते रहने के कारण —— लौकिक जीवन के हर क्षेत्र में उसकी पुनरावृत्ति (repetition) होते रहने के कारण —— वह हमें सत्य प्रतिभासित होने लगी है। यहां तक कि निमित्त के कर्तृत्व की इस मान्यता को अपने अंतरंग से निकाल पाना हमें असंभव–सा लगता है। तर्क की कसौटी पर अपनी मान्यता के सही न उतरने पर, तत्त्वचर्चा आदि के दौरान हम निरुत्तर भले ही हो जाते हों, किन्तु अंतरंग में हमारी मान्यता वही–की–वही बनी रहती है।

§ २.२ निमित्त कभी भी कर्ता नहीं हो सकता

किसी भी कार्य के होने में एक बात असंदिग्ध रूप से निश्चित है —— यह कि 'निमित्त' उसका कर्ता नहीं हो सकता। **कोई भी द्रव्य किसी अन्य द्रव्य का, अथवा उसकी पर्याय का, कर्ता नहीं हो सकता; क्योंकि 'कर्ता' शब्द का अर्थ है —— *वह***

पदार्थ जो अपने स्वरूप से ही विवक्षित कार्य में रूपान्तरित हो। *समयसार* के व्याख्याकार अमृतचन्द्राचार्य के शब्दों में —

"यः परिणमति स कर्ता, यः परिणामो भवेत् तु तत्कर्म
या परिणतिः क्रिया सा . . . "

(आत्मख्याति, कल 1 सं० ५१)

अर्थात् जो द्रव्य परिणमन करता है वही (उस परिणमन का, अथवा उससे जनित परिणाम का) कर्ता है, और वह परिणाम अथवा पर्याय उसका कर्म या कार्य है। तथा द्रव्य का वह परिणमन ही उस द्रव्य की क्रिया है। इस प्रकार स्पष्ट है कि **उपादान ही कर्ता है और कर्ता ही उपादान है।**

§ २.३ अन्य निमित्तों की भाँति ही भगवान भी कर्ता नहीं हो सकते

किसी भी द्रव्य को किसी अन्य द्रव्य या उसकी पर्याय का कर्ता मानने से उन दोनों द्रव्यों में एकत्व या तादात्म्य स्थापित हो जाएगा, जो कि स्पश्टतः मिथ्यात्व है। सर्वविदित है कि जिनशासन में भगवान को भी किसी अन्य पदार्थ का कर्ता नहीं माना गया है, क्योंकि भगवान भी (स्वद्रव्य के अतिरिक्त) विश्व के अनन्तानन्त जड़ और चेतन पदार्थों के लिये परद्रव्य हैं; यदि उन्हें किसी अन्य का कर्ता माना जाएगा तो उस अन्य द्रव्य के साथ उनके भी एकत्व की प्राप्ति का प्रसंग उपस्थित हो जाएगा। इस प्रकार, **भगवान में 'पर' के कर्तृत्व के निषेध के द्वारा जिनसिद्धान्त में समस्त निमित्तों के कर्तापने का निषेध किया गया है — ऐसा संशयरहित होकर समझना चाहिये।**

वस्तुस्वरूप इस प्रकार होते हुए भी, जैन समाज का एक बड़ा वर्ग आज भी निमित्त को कर्ता मानता है। परन्तु यदि निमित्त को कर्ता माना जाता है तो इस मान्यता के अनुसार जो भी कार्य निमित्त ने किया है वह उसी के द्वारा ही मिटाया भी जा सकेगा, अन्यथा नहीं। उदाहरण के लिये, यदि माना जाता है कि 'स्त्री ने राग उत्पन्न करा दिया', तो फिर उसे दूर भी केवल वही कर सकेगी — अर्थात् उसकी इच्छा के विरुद्ध वह राग दूर नहीं हो सकेगा। इस प्रकार की मान्यताओं के अनुसार तो जीव की मोक्ष–प्राप्ति अथवा परभव में देव–नारकादि पर्यायों की प्राप्ति भी निमित्त के ही आधीन हो जाएगी — वह (निमित्त) जिसे जहाँ चाहेगा, वहाँ भेजने के लिये स्वतन्त्र होगा। दूसरे शब्दों में, हमारे अस्तित्व की स्वतन्त्रता का ही लोप हो जाएगा और हम निमित्त के हाथ की कठपुतली मात्र बनकर रह जाएँगे।

§ २.४ निमित्त के कर्तापने की मान्यता ही अहंकार व राग–द्वेष की मूल कारण, एवं अनन्तानुबन्धी कशाय की जननी

निमित्त को कर्ता मानने पर हम जीव को क्रोधादिक कषाय करने के लिये दोषी अथवा उत्तरदायी नहीं ठहरा सकते, क्योंकि तब — ऐसी मान्यता के अन्तर्गत — 'कषाय स्वयं जीव ने की ही नहीं, अपितु निमित्त ने कराई है', ऐसा मानना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में, आचार्यों द्वारा जीवों को राग–द्वेष का अभाव करने का जो उपदेश दिया गया है, वह भी निरर्थक हो जाएगा, क्योंकि उक्त मान्यता के अनुसार राग–द्वेष करना या न करना जीव के हाथ में न होकर, निमित्त के हाथ में होगा। इस प्रकार, हमारा सुख–दुःख भी हमारे हाथ में न रहकर, निमित्त के आधीन हो जाएगा, 'पर' के आधीन हो जाएगा। **इसी मान्यता अथवा दृष्टि को कि 'पर मेरा भला–बुरा कर सकता है' आचार्यों ने 'निमित्ताधीन दृष्टि' कहा है।**

और फिर, जब 'पर' अर्थात् निमित्त हमारा भला–बुरा कर सकता है तो हम भी दूसरे जीवों के लिये 'पर' अर्थात् निमित्त होने के कारण उनका भला–बुरा कर सकेंगे। **'मैं पर का भला–बुरा कर सकता हूँ' — इसी मान्यता को 'परकर्तृत्व–बुद्धि' कहते हैं और यही अहंकार व राग–द्वेष की मूल कारण है। 'निमित्ताधीन दृष्टि' और 'परकर्तृत्व–बुद्धि' इस प्रकार एक ही मिथ्या मान्यता के दो रूप हैं, एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।**

निमित्त को अपने भले–बुरे का कर्ता मानते ही जड़ व चेतन, सभी परद्रव्यों के प्रति राग–द्वेष का अभिप्राय इस जीव के बन जाता है; क्योंकि 'इश्ट' प्रतीत होने वाले निमित्तों के प्रति राग और 'अनिश्ट' प्रतीत होने वाले निमित्तों के प्रति द्वेष इसके अंतरंग में निरंतर बना रहेगा। अब विचार किया जाए कि इस विश्व में अनन्तानन्त परद्रव्य हैं, और उन सभी में इस जीव के लिये किसी–न–किसी प्रकार से निमित्त होने की संभावना मौजूद है। अतः यदि निमित्त को कर्ता माना जाएगा तो उन अनन्तानन्त परद्रव्यों के विद्यमान रहते हुए, हम कभी भी कषाय से मुक्त नहीं हो सकेंगे। इस प्रकार विश्लेषण करनेपर हम पाते हैं कि **निमित्त के कर्तापने की मान्यता ही इस जीव के अंतरंग में अनन्तानन्त परपदार्थों के प्रति कषाय करने के अभिप्राय को जन्म देने वाली है** — दूसरे शब्दों में कहें तो, **'अनन्तानुबन्धी' कषाय की मूल कारण है।**

§ २.५ धर्म, अधर्म, आकाश, काल का निमित्तत्व

द्रव्यानुयोग का मूल सिद्धान्त है कि **प्रत्येक द्रव्य में अपनी निजी शक्तियाँ होती हैं जिनके अनुसार ही वह द्रव्य निज परिणमनरूपी कार्य को उत्पन्न करता है। लाख चेष्टाएँ करके भी कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्य में कोई नवीन शक्ति उत्पन्न नहीं**

कर सकता। जब वस्तु–तत्त्व इस प्रकार असंदिग्ध रूप से स्पष्ट है, तब फिर एक द्रव्य किसी दूसरे द्रव्य के परिणमन का कर्ता कैसे हो सकता है?

इस जगत में छह द्रव्य हैं : जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। द्रव्य वह है जिसका अस्तित्व सदा से है, अनादिकाल से है; और सदा रहेगा, अनन्तकाल तक रहेगा — जो न तो कभी बनाया जा सकता है और न ही कभी मिटाया जा सकता है; किन्तु जिसकी अवस्थाओं अथवा पर्यायों में *उत्पाद–व्यय*, परिवर्तन या बदलाव हमेशा होता रहता है, जबकि द्रव्य का मौलिक स्वभाव ज्यों–का–त्यों, सदाकाल एक–सा, *ध्रुव* रहता है।

उक्त छह द्रव्यों में से केवल जीव द्रव्य ही ऐसा है जो चेतनाशक्ति वाला है, शेष पाँच द्रव्य जड़ हैं। केवल पुद्गल द्रव्य ऐसा है जो मूर्तिक है, जो पाँच इन्द्रियों के द्वारा जाना जाता है; शेष पाँच द्रव्य अमूर्तिक हैं, अतः इन्द्रियों की पकड़ से परे हैं। जीव और पुद्गल, ये दो द्रव्य क्रियावती शक्ति वाले हैं, जबकि शेष चार द्रव्य निष्क्रिय हैं।

क्रियावान होने से जीव और पुद्गल, दोनों अपनी–अपनी सामर्थ्य के अनुसार हलन–चलन करते हैं, एक स्थान से दूसरे स्थान को जाते हैं। हलन–चलन करते हुए ये जीव और पुद्गल यथाकाल–यथास्थान रुकते भी हैं। इनकी गति में जो द्रव्य माध्यम होता है, साधारण निमित्त होता है, वह धर्मद्रव्य है। इनकी गतिपूर्वक स्थिति में जो द्रव्य साधारण निमित्त होता है, वह अधर्मद्रव्य है। सभी द्रव्यों में जो परिवर्तन या परिणमन निरंतर होता रहता है, उसमें कालद्रव्य साधारण निमित्त होता है (कालद्रव्य को निज परिणमन के लिये अन्य द्रव्य की अपेक्षा नहीं है)। तथा, सभी द्रव्यों के लिये जो अवगाह या अवकाश का साधारण निमित्त होता है, वह आकाशद्रव्य है (आकाशद्रव्य अपने लिये स्वयं अवकाशरूप होता है)।

चूंकि इन धर्मादिक द्रव्यों की उपस्थिति लोक में सर्वत्र ही है, अतः जब जीवादिक पदार्थ हलन–चलन आदि करते हैं तो उन्हें प्रयत्नपूर्वक इन धर्मादिक निमित्तों को खोजकर, इनका अवलम्बन नहीं लेना पड़ता। **लोकाकाश की सीमा के भीतर, उपादान द्रव्य जब–जहाँ गति/स्थिति/ परिणमन/अवगाहन करता है, तब–तहाँ तदनुकूल साधारण निमित्त उपलब्ध रहता है।**

§ २.६ 'निमित्त–नैमित्तिक' व 'कर्ता–कर्म' — इन दो प्रकार के सम्बन्धों में मूलभूत भेद

कोई पदार्थ (उपादान) जब अपने विवक्षित परिणमन के अनुकूल पड़ने वाली दूसरे पदार्थ की पर्याय–विशेष का अवलम्बन लेकर परिणमन करता है, तब उस दूसरे पदार्थ की पर्याय को 'निमित्त' संज्ञा प्राप्त होती है। दूसरी ओर, **उत्पन्न होने वाली विवक्षित पर्याय अर्थात् उपादान की कार्यरूप परिणति 'नैमित्तिक' नाम पाती है।** उदाहरण के लिये, यदि कोई मनुश्य आत्मलीन मुद्रा वाली पाशाण–प्रतिमा का

अवलम्ब लेकर, उसके माध्यम से भाव–जिनेन्द्र का द र्शन करते हुए, अपने अन्तरंग में भेद–विज्ञान को पुश्ट करता है तो उस मनुश्य (उपादान) की भेदज्ञानरूप परिणति/पर्याय या कार्य को 'नैमित्तिक' कहेंगे, जबकि पाशाण की उस कार्य के अनुकूल पर्याय (स्वरूपलीन आकृति/अवस्था/पर्याय) 'निमित्त' कहलाएगी। 'निमित्त' और 'नैमित्तिक', इन दोनों के बीच का सम्बन्ध ही 'निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध' कहलाता है। इस प्रकार, निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध दो द्रव्यों के बीच नहीं, बल्कि दो द्रव्यों की पर्यायों के बीच होनेवाला सम्बन्ध है।

मूल सिद्धान्त है कि द्रव्य नित्य होता है, जबकि पर्याय अनित्य। अतः यदि निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध को दो *द्रव्यों के बीच* होनेवाला सम्बन्ध मान लिया जाए तो द्रव्यों की नित्यता के कारण उनके बीच माना गया सम्बन्ध भी नित्य ठहर जाएगा; और तब, जीव के परिणामों तथा पौद्गलिक कर्मों के बीच होने वाले निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध का कभी विनाश न हो सकने के कारण मोक्ष का भी अभाव होने का प्रसंग प्राप्त हो जाएगा। परन्तु, वस्तुस्वरूप ऐसा नहीं है — दो द्रव्यों की (**अनित्य**) ***पर्यायों के बीच*** **होने के कारण निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध अनित्य ही होता है।**

दूसरी ओर, कर्ता–कर्म सम्बन्ध सदा एक ही द्रव्य की सत्ता के भीतर होता है। परिणाम/कार्य/कर्म भी क्षणिक होने के कारण, **कर्ता–कर्म सम्बन्ध भी अनित्य ही होता है।** इस प्रकार उक्त दोनों ही सम्बन्ध अनित्य हैं। इस अपेक्षा समानता होते हुए भी, इनमें मूलभूत अन्तर है — द्रव्य और उसकी पर्याय के बीच कथंचित् तादात्म्य होने से कर्ता–कर्म सम्बन्ध (अनित्य) तादात्म्यतारूप है, जबकि निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध ज़्यादा से ज़्यादा सं लेशरूप संयोग हो सकता है; जैसे कि जीव और पौद्गलिक कर्म के बीच का सम्बन्ध।

§ २.७ 'निमित्त–नैमित्तिक' सम्बन्ध–विशयक

हमारी भूल का मूल कारण — हमारी अपनी लौकिक मान्यताएं

लोकव्यवहार में निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध को ही कर्ता–कर्म सम्बन्ध कह दिया जाता है। परन्तु यह जानना अत्यन्त आवश्यक है कि यह उपचार की भाषा है — वह भाषा, जो कहती है कि 'कमीज़ छोटा हो गया है' (जबकि हुआ यह है कि कमीज़ को पहनने वाला बालक अब बड़ा हो गया है)। ऐसी औपचारिक भाषा लोकव्यवहार में तो चल जाती है, चूँकि वहाँ तो हम लोग ऐसी भाषा का सही अभिप्राय समझने में अनुभवी हैं, होशियार हैं। किन्तु अन्य स्थलों पर हम बड़ी भारी, मौलिक भूल कर बैठते हैं — निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध का विशयक्षेत्र भी एक ऐसा ही स्थल है। बचपन से उपचारभरी भाषा ही सुनते और बोलते हुए, हम उसे

उपचार न मानकर सत्य मान बैठे हैं। अपनी इस भूलभरी आदत का ही परिणाम है कि जिनागम एवं युक्ति व तर्क द्वारा इस उपचारयुक्त भाषा के मिथ्यापने को स्पष्टरूप से बार–बार प्रतिपादित किये जाने पर भी हम बुद्धि के स्तर पर इसे मिथ्या भले ही स्वीकार कर लें, परन्तु अपनी अंतरंग मान्यता को सुधारने में असमर्थ ही रहते हैं। यही कारण है कि परद्रव्यों के प्रति राग–द्वेष करने का प्रयोजन हमारे अन्तरंग से नहीं निकल पाता।

§ २.८ निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध के विभिन्न प्रकार

छह द्रव्यों में परस्पर होने वाले विभिन्न निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्धों का, 'किस पदार्थ का किससे सम्बन्ध?' इस दृष्टि से मुख्यतः पाँच कोटियों में वर्गीकरण किया जा सकता है :

1. किसी जीव की पर्याय का किसी अन्य जीव की पर्याय के साथ।
2. किसी जीव की पर्याय (निमित्त) का किसी पौद्गलिक पर्याय (नैमित्तिक) के साथ।
3. किसी पौद्गलिक पदार्थ की पर्याय (निमित्त) का किसी जीव की पर्याय (नैमित्तिक) के साथ।
4. किसी पौद्गलिक पदार्थ की पर्याय का अन्य किसी पौद्गलिक पर्याय के साथ।
5. धर्म–अधर्म–आकाश–काल में से किसी की पर्याय (साधारण निमित्त) का अन्य किसी द्रव्य की पर्याय (नैमित्तिक) के साथ।

पहले प्रकार के निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्धों के अन्तर्गत एक ओर तो गुरूपदेश आदि के अवलम्बन द्वारा आत्मोन्नति–रूप कार्य तथा, दूसरी ओर, संसार में विभिन्न जीवों के बीच होने वाले अनेक तरह के सम्बन्ध आएंगे। *'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' (त० सू०, ५/२१)* —— यह सूत्र इन्हीं सम्बन्धों की ओर इंगित करता है।

जीव के परिणामों और द्रव्यकर्म की बन्ध, उदय आदि परिणतियों के बीच होने वाले निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्धों का **दूसरी कोटि** में अन्तर्भाव होगा। जीव के राग–द्वेषरूप परिणामों के अनुसार शरीर की क्रियाओं का होना भी इसी कोटि के अन्तर्गत है।

द्रव्यकर्म की उदयरूप परिणति तथा जीव के रागादिक परिणामों के बीच होने वाले निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध **तीसरी कोटि** के अन्तर्गत आएंगे। दूसरी ओर,

जिनबिम्बदर्शन, शास्त्र–अध्ययन, चरणानुयोग–सम्मत आचरण के अवलम्बन से साधक द्वारा निजपरिणामों की सँभाल आदि भी इसी जाति में भाामिल होंगे।

विश्व में पाए जाने वाले पौद्गलिक पदार्थों के बीच होने वाले अनेकों निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध **चौथी कोटि** के अन्तर्गत आते हैं। जैसे कि सूरज की गर्मी का निमित्त पाकर समुद्र का पानी भाप बनकर बादल का रूप ले लेता है, हवा के वेग का निमित्त पाकर बादल क्षेत्रान्तर में चला जाता है; यदि वहाँ वायुमंडल ठंडा होता है तो वह भाप फिर से पानी का रूप लेकर बरसने लगती है। इस प्रकार, प्रकृति में नाना प्रकार के बदलाव अपने–अपने निमित्त–नैमित्तिक भावों के अनुसार लगातार होते रहते हैं। पुन च, अघातिकर्मों के उदय के फलस्वरूप, भारीर की रोगी–नीरोगी, सुन्दर–कुरूप आदि अवस्थाएं तथा भारीर से सम्बन्धित परिवार–परिग्रह आदि के संयोग भी इसी कोटि के निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्धों के अन्तर्गत आते हैं। ज्ञातव्य है कि (परम्परा की अपेक्षा) **सदा से चले आ रहे इन निमित्त–नैमित्तिक भावों की सत्यता से बेख़बर अन्यमतियों को ऐसे कार्यों के हेतुरूप में किसी 'सृश्टिकर्ता/नियन्ता ई वर' की कल्पना करना ज़रूरी हो जाता है।**

पाँचवीं कोटि के सम्बन्ध की चर्चा ऊपर अनुच्छेद २.५ में कर ही आए हैं।

§ २.६ निमित्त का अवलम्बन लेने के सन्दर्भ में, चेतनाशक्ति–सम्पन्न जीवद्रव्य की मूलतः स्वतन्त्रता

छह द्रव्यों में से केवल जीवद्रव्य ही ऐसा है जो चेतना गुण से सम्पन्न है। अतः वह स्वतन्त्र है कि बुद्धिपूर्वक किसी परद्रव्य का अवलम्ब ले या न ले, परपदार्थ को निमित्त बनाए अथवा न बनाए। और वह किस कार्य के लिये प्रयत्न करे और उसके लिये किस निमित्त का अवलम्बन ले, यह भी जीव पर ही निर्भर करता है। दूसरी ओर, जड़ पुद्गल में ऐसा निर्णय लेने की सामर्थ्य ही नहीं हो सकती कि 'परपदार्थ के साथ निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध स्थापित करूँ या न करूँ' — यदि जड़ उपादान में तदनुरूप परिणमन करने की योग्यता है तो अनुकूल निमित्त मिलने पर कार्य सम्पन्न हो जाता है अर्थात् उसका तदनुरूप परिणमन होता ही है। उदाहरण के लिये, गर्मी का संयोग मिलनेपर जल की भापरूप परिणति होगी ही — गर्मी की उपस्थिति में भी पानी भाप–अवस्था में न बदले, ऐसा नहीं हो सकता।

यद्यपि अपने लौकिक जीवन में अधिकांशतः ऐसी स्थितियाँ देखते रहने के कारण जिनमें कि उपादान पौद्गलिक है, जड़ है, हमें यह भ्रम हो जाता है कि हम भी निमित्त के आधीन हैं, तथापि चेतनाशक्तियुक्त जीव के साथ उक्त प्रकार की पराधीन स्थिति नहीं है। उदाहरण के लिये, हमें कोई गाली देता है,

अपमानजनक शब्द कहता है। अब यह हम पर निर्भर है कि चाहें तो हम गाली आदि वचनों में अनिष्टबुद्धि करके अपने को अपमानित महसूस करते हुए क्रोधादिरूप परिणमन करें, और चाहें तो उन शब्दों को अपने ज्ञानोपयोग का विषय ही न बनाएं, अथवा यदि वे शब्द हमारे उपयोग का विषय बन भी गए हों तो उनमें अनिष्टबुद्धि न करते हुए, मान–अपमान की भावना से परे हम उदासीन रहें, स्वयं को साक्षीभाव में ले जाएं। इस प्रकार, चेतनाशक्तिसम्पन्न होने के कारण, जीव यदि चाहे तो स्वतन्त्ररूप से परिणमन कर सकता है। बाह्य संयोग चाहे कैसे भी हों — अनुकूल अथवा प्रतिकूल — उनका अवलम्बन लेना या न लेना, और तदनुरूप परिणमन करना या न करना, यह सब हमारे स्वयं के ऊपर निर्भर करता है।

§ २.१० मोक्षमार्ग के सन्दर्भ में निमित्त की भूमिका

निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध के बारे में यह बात ध्यान देने योग्य है कि उपादान में कार्यरूप परिणमन करने की योग्यता का होना आवश्यक है — उपादान में कोई नवीन शक्ति उत्पन्न करना निमित्त की सामर्थ्य के परे है। **मोक्षमार्ग के सन्दर्भ में, निमित्त के लिये उपादान नहीं है, बल्कि उपादान के लिये निमित्त है। मोक्षमार्ग में उपादान की ही प्रधानता है — क्योंकि *मोक्षमार्ग की साधना जीव द्वारा, निज के लिये, निज के अस्तित्व में ही, निजद्रव्य के शुद्धिकरण की प्रक्रिया ही तो है।* अतएव यह तर्कसंगत एवं युक्तियुक्त ही है कि मोक्षमार्ग में कथन अधिकां ातः उपादान की मुख्यता से किया जाए।**

निमित्त को 'सहायता करने वाला' नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ऐसे कथन में तो निमित्त के कर्तृत्व का भाव आ जाता है। दूसरा कारण यह भी है कि एक पदार्थ में अनेक प्रकार के कार्यों का निमित्त बनने की सम्भावना होती है। वस्तुतः यह जीव/उपादान की योग्यता और रुचि पर निर्भर करता है कि वह किस कार्य के लिये निमित्त की तदनुकूल योग्यता का अवलम्बन लेता है। सुदेव–शास्त्र–गुरु का अवलम्ब/आश्रय हम लेते हैं; अब यह हम पर ही निर्भर करता है कि किस कार्य के लिये हम ऐसा करते हैं। जैसे कि वीतराग, आत्मलीनमुद्रा वाले तथा भेदविज्ञान के साक्षात् मूर्तिमान–स्वरूप, जिनबिम्ब के दर्शन का अवलम्ब लेकर कोई मनुष्य भेदविज्ञान तथा आत्मदर्शन के लिये सम्यक् रीति से उद्यम करता है। दूसरी ओर, आत्मदर्शन के ध्येय से रहित कोई मनुष्य उसी जिनबिम्ब के दर्शन का अवलम्ब लेकर अधिक–से–अधिक शुभभाव का उद्यम कर सकता है — वह भी तब, जब वह जिनेन्द्र के वीतरागता आदि गुणों में अपना उपयोग लगाए। और, यदि किसी व्यक्ति के अंतरंग में भगवान के कर्ता–धर्तापने की मिथ्या मान्यता पड़ी है तो जिनेन्द्र के वीतराग, सम्यक् स्वरूप से बेख़बर, वह व्यक्ति दर्शन करते समय

अपनी उस अंतरंग मिथ्या–मान्यता का अनायास ही जिनबिम्ब पर आरोपण कर लेता है; चर्मचक्षुओं से जिनबिम्ब को देखते हुए भी वह अपनी कल्पना में कर्ता–धर्ता/रागी–द्वेषी किसी 'ईश्वर' को ही देखता है — संसार–शरीर– भोगों के लिये किया गया ऐसा उद्यम वस्तुतः 'अशुभ' की कोटि में ही आ सकता है।

उपर्युक्त उदाहरणों से भली–भाँति स्पष्ट हो जाता है कि :

(क) हमारी (उपादान की) रुचि पर ही निर्भर करता है कि हम किस कार्य के लिये निमित्त की तदनुकूल योग्यता का अवलम्बन लेते हैं।

(ख) हम स्वयं ही परपदार्थ का अवलम्बन लेकर उसे अपने कार्य का निमित्त बनाते हैं — जब तक उपादान अपने अभीष्ट परिणमन के लिये उसका अवलम्ब नहीं लेगा, तब तक परपदार्थ अपनी उपस्थिति मात्र से ही निमित्त नहीं बन पाएगा।

(ग) कार्यरूप परिणति का समस्त उत्तरदायित्व भी — चाहे वह कार्य मोक्षमार्ग के अनुकूल हो अथवा प्रतिकूल — उपादान का ही ठहरता है, परमार्थतः निमित्त का उसमें कोई गुणदोष नहीं है। हाँ, इतना अवश्य है कि सुदेव–शास्त्र–गुरु के स्वरूप को सम्यक् रूप से जानने वाला व्यक्ति उनका सम्यक् रीति से अवलम्ब लेकर यदि अपने कल्याण–पथ पर अग्रसर होता है तो स्वयं को उनके प्रति कृतज्ञता, भक्ति आदि भावों से युक्त, तथा उनके गुणानुवाद आदि रूप परिणति से युक्त पाता है।

इस प्रकार, **मोक्षमार्ग के सन्दर्भ में निमित्त की परिभाषा हुई — वह पदार्थ जिसकी निजानुकूल परिणति का अवलम्ब लेकर उपादान अपने अभीश्ट पर्याय/कार्य को उत्पन्न करता है।** निमित्त सहायता/मदद नहीं करता, किन्तु उपादान उसका अवलम्ब लेकर अपने कार्यरूप परिणमन करता है। जब ऐसा होता है, तब उपचार से कहा जाता है कि 'निमित्त ने कार्य कर दिया' — परन्तु यह मात्र औपचारिक कथन है।

जब उपादान अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिये निमित्त का अवलम्ब लेकर स्वयं ही अपने कार्यरूप परिणमा, तब यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि निमित्त ने क्या किया? उत्तर है कि निमित्त ने उपादान के अस्तित्व में कुछ नहीं किया, बल्कि उपादान ने उसकी सहायता ली। जिसकी निज परिणमन/कार्य में सहायता ली जाती है, वही 'निमित्त' नाम पाता है (अन्य पदार्थ — वहाँ उपस्थित हों, तब भी — 'निमित्त' संज्ञा को प्राप्त नहीं करते)। जब इस प्रकार निमित्त की सहायता ली जाती है, तब उपचरित कथन बनता है कि निमित्त ने सहायता की। इस उपचारात्मक कथन को यथार्थ मान लेने से, हमारी मान्यता में निमित्त का कर्तापना दृढ़ हो जाता है। पुनश्च, **जब निज परिणमन/कार्य के लिये *उपादान ने सहायता***

ली, तब स्पष्ट है कि उपादान स्वतन्त्र है — वह चाहे तो सहायता ले, न चाहे तो न ले।

§ २.११ मोक्षमार्ग में निमित्त की भूमिका : उदाहरण के माध्यम से विस्तृत वि लेशण

मोक्षमार्ग के सन्दर्भ में जीव तभी निमित्त का अवलम्ब लेता है, जब उसमें वांछित कार्यरूप परिणमन की मूल योग्यता तो होती है किन्तु आत्मबल की कमी होती है। धीरे–धीरे जब वह अपना आत्मबल काफ़ी बढ़ा लेता है, तब उसे निमित्त के अवलम्ब की आवश्यकता भी नहीं रहती। एक उदाहरण द्वारा इस बात को समझा जा सकता है। मान लीजिये कि किसी आदमी का एक पैर कमज़ोर है, उससे चला नहीं जाता; वह डॉक्टर से राय लेता है। जांच करके डॉक्टर कहता है — आपको पहले फलाँ किस्म की छड़ी/बैसाखी का सहारा लेकर चलना होगा। सहारे से चलने से धीरे–धीरे पैर की कमज़ोरी घटेगी। फिर एक दिन ऐसा आएगा कि छड़ी का सहारा छूट जाएगा और आप बिना किसी सहारे के भी चल सकेंगे।

उपर्युक्त दृष्टान्त का यदि क्रमिक विश्लेषण (step-by-step analysis) करें तो दार्ष्टान्त अर्थात् 'मोक्षमार्ग में निमित्त–उपादान सम्बन्ध' के विभिन्न पहलू ठीक–ठीक समझ में आ सकते हैं :

1. पहले निश्चित करना है कि मुझे अंततः स्वावलम्बन से चलना है — **सर्वप्रथम लक्ष्य का निर्णय करना है।**
2. चलने में सहारे के लिये कौन सी किस्म की छड़ी उपयुक्त होगी, यह जानकारी हासिल करके वैसी छड़ी जुटाना — **लक्ष्य–प्राप्ति में जो सम्यक् साधन हों, सुदेव–शास्त्र–गुरु आदि, उनके स्वरूप का निर्णय करना और उनका संयोग प्राप्त करना।**
3. उस छड़ी का इस प्रकार सहारा लेना जिस प्रकार से उसे चलने में ठीक तरह से सहायक बनाया जा सके — **निर्णीत साधन का लक्ष्य–प्राप्ति के लिये सम्यक् प्रकार से अवलम्बन लेना।**
4. छड़ी का सहारा लेकर हम स्वयं चलने का उद्यम करें — **साधन या साधनों का अवलम्ब लेकर हम स्वयं सम्यक् पुरुषार्थ करें (जैसे देवदर्शन का अवलम्ब लेकर हम स्वयं आत्मदर्शन के लिये सम्यक् पुरुषार्थ करें)।**
5. छड़ी का सहारा लेना इस तथ्य का सूचक है कि हमारे पैर में कमज़ोरी है — **साधनों का अवलम्ब लेना इस वस्तुस्थिति को दर्शाता है कि अभी हममें आत्मबल की कमी है।**

6. छड़ी ने नहीं चलाया, बल्कि छड़ी का सहारा लेकर हम चले — **सम्यक् साधनों (सुदेव–शास्त्र–गुरु) ने मोक्षमार्ग में आगे नहीं बढ़ाया, अपितु उनका अवलम्ब लेकर हम धर्ममार्ग में अग्रसर हुए।**
7. छड़ी के सहारे चलने का अभ्यास करते–करते, पैर की ताकत बढ़ने पर, एक दिन बिना किसी सहारे के स्वयं चल सकते हैं — **सम्यक् साधनों का अवलम्ब लेकर अभ्यास करते–करते, अपना आत्मबल बढ़ जाने पर, एक दिन बिना किसी अवलम्ब के हम आत्मस्थता के लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं।**
8. पहले छड़ी का सहारा लेकर हमने निज में शक्ति जाग्रत की और फिर सहारे को छोड़ दिया (सही माने में, सहारा छूट गया) — **पहले सम्यक् साधनों का अवलम्ब लेकर हमने आत्मबल जाग्रत किया और फिर अवलम्ब छूट गया।**
9. कमज़ोर हालत में सहारे के बिना नहीं चल सकते, इसलिये सहारा लेना ज़रूरी है — **आत्मबल की अशक्त अवस्था में अवलम्ब के बिना अपने लक्ष्य की ओर नहीं बढ़ सकते, अतः सम्यक् साधनों का अवलम्ब लेना आवश्यक है।**
10. अगर कमज़ोरी दूर हो गई हो तो लिया गया सहारा छोड़ना भी ज़रूरी है — **आत्मबल की सशक्त अवस्था में अवलम्ब का छूट जाना भी अनिवार्य है।**
11. मौजूदा हालत में फलाँ किस्म की छड़ी का सहारा लेकर चलने की हमारे शरीर में योग्यता है, यह जानकारी हमारे लिये ज़रूरी है — **अपनी वर्तमान अवस्था में किस साधन अथवा किन साधनों का अवलम्ब लेकर अपना लक्ष्य प्राप्त करने की हमारी पर्याय में योग्यता है, इसका सही–सही ज्ञान करना हमारे लिये आवश्यक है।**

उपर्युक्त वि लेशण से निश्कर्श निकलता है कि स्व ाक्ति की कमी के कारण जब हम स्वतन्त्र रूप से अपना कार्य करने में असमर्थ होते हैं, तब अपने वांछित कार्य के अनुकूल निमित्त का अवलम्ब अथवा आश्रय इस प्रकार से लेते हैं कि हम अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकें।

§ २.१२ किसी वस्तु में निमित्तत्व का विधान — सामान्य और विशेष, दो प्रकार के कथन

यदि किसी पदार्थ में किसी विवक्षित कार्य का निमित्तपना है, तो इसका कथन दो प्रकार से किया जा सकता है; एक, सामान्य कथन, और दूसरा, विशेष कथन। किसी वस्तु में अभीष्ट कार्य का निमित्त होने की शक्ति मौजूद है, यह बतलाना **सामान्य कथन** है। उदाहरणार्थ, मुलैठी में कफ को गलाने की शक्ति है — वह पंसारी की दुकान में पड़ी हो, किसी औषधालय में रखी हो, अथवा अन्यत्र कहीं हो; उसमें वह शक्ति सर्वत्र और सदाकाल मौजूद है। मुलैठी लेने से किसी

रोगी–विशेष का कफ–रोग चाहे ठीक हो या न हो, किन्तु उसमें कफहरण–शक्ति की मौजूदगी का निषेध नहीं किया जा सकता। यह शक्ति होने के कारण ही तो वैद्य कफ के रोगी को नुसख़े में मुलैठी–चूर्ण लिखता है।

यहाँ, यह प्रश्न नहीं है कि किसी रोगी–विशेष का कफ–रोग ठीक हुआ कि नहीं, चूँकि यह तो सामान्य कथन है, जो वैद्यकशास्त्र की इस जानकारी पर आधारित है कि मुलैठी का प्रभाव कफहर के रूप में होता है तथा अनेकों लोग इस औषधि के सेवन से रोगमुक्त हुए हैं। दूसरी ओर, 'यदि मुलैठी में कफ गलाने की शक्ति है तो अमुक रोगी ठीक क्यों नहीं हुआ?' ऐसा प्रश्न उठना स्वाभाविक है। उत्तर है कि या तो रोगी–विशेष ने औषधि का प्रयोग सही तरीके से नहीं किया, या फिर ठीक तरह से परहेज़ निभाने में कोताही बरती। अतः इसमें औषधि का दोष नहीं है। व्यक्ति–वि ोश के लिये कोई औशधि निमित्त तभी कहलाएगी जब उसका सही रीति से प्रयोग करने से उसकी व्याधि ठीक हो जाएगी। 'मुलैठी के सेवन से (मुलैठी के निमित्त से) अमुक व्यक्ति का कफ–रोग ठीक हो गया' — तब इस प्रकार कहना, **विशेष कथन** होगा। परन्तु, **यदि हम प्रथमतः सामान्य–कथन को स्वीकार नहीं करेंगे, और यह मानेंगे कि 'हमारा रोग ठीक होने पर ही हम उस औषधि को निमित्त स्वीकार करेंगे' तो वैद्य फिर औषधि का विधान ही नहीं कर सकेगा।**

इसी प्रकार, **सच्चे देव–शास्त्र–गुरु में भेद–विज्ञान का निमित्त होने की योग्यता विद्यमान है — इस सामान्य कथन को स्वीकार करके ही हम भेद–विज्ञान को अपने अंतरंग में विकसित करने के लिये उनका अवलम्ब लेते हैं।** दूसरी ओर, कुदेव–शास्त्र–गुरु भेद–विज्ञान के निमित्त नहीं हैं, क्योंकि रागी–द्वेषी लौकिक जनों द्वारा अपनी कल्पना से रचे गए कुदेव–शास्त्र–गुरु के मनगढ़ंत स्वरूप में ऐसे गुणों का सर्वथा अभाव है जिनका अवलम्ब लेकर वीतरागता/भेदविज्ञान की पुष्टि करना सम्भव हो सके। प्रत्युत, कुदेव–शास्त्र–गुरु के तथाकथित स्वरूप का अवलम्ब लेकर, लौकिक जन अपने राग–द्वेष करने के अभिप्राय की ही पुष्टि किया करते हैं, अतः वे मिथ्यात्व के निमित्त अवश्य हैं। यही कारण है कि अपना हित चाहने वाले जीवों को उनका अवलम्ब न लेने का उपदेश दिया जाता है।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट हो जाता है कि **किसी वस्तु के निमित्तपने का विधान करते समय सामान्य और विशेष, दोनों प्रकार के कथनों को स्वीकार करना आवश्यक है, अन्यथा जीवों के कल्याणार्थ जिनदर्शन, शास्त्र–अध्ययन आदि के लिये उपदेश देने की सार्थकता नहीं रहेगी।**

§ २.१३ निमित्तदृष्टि और उपादानदृष्टि — मोक्षमार्ग में दोनों की प्रासंगिकता,

एवं एक–दूसरे से सापेक्षता

आगम में विभिन्न स्थलों पर, प्रयोजन के अनुसार कहीं तो निमित्त–दृष्टि की मुख्यता से (उपादान–दृष्टि को गौण करते हुए) कथन किया गया है, और कहीं उपादान–दृष्टि की मुख्यता से (निमित्त–दृष्टि को गौण करते हुए) कथन किया गया है। वस्तुतः ये दोनों ही दृष्टियाँ सापेक्ष हैं — एक–दूसरे की अपेक्षा रखती हैं। नीचे लिये गए उदाहरण इस बात को दर्शाते हैं कि जीव–विशेष की मानसिक/भावनात्मक स्थिति, उसकी रुचि आदि को ध्यान में रखकर, आचार्यों ने निमित्त–प्रधान अथवा उपादान–प्रधान, दोनों दृष्टियों में से उसी दृष्टि को मुख्य रूप से अंगीकार करते हुए कथन किया जो कि उस स्थिति में उस जीव के हित में हो :

(क) जो पर्यायमूढ़ जीव परपदार्थों को अपने सुख–दुःख का कर्ता मानकर, उनके प्रति राग–द्वेष करने में ही लगे थे, उन्हें तत्त्वसम्मुख करने के लिये, उपादान–दृष्टि की मुख्यता से कहा कि 'तू अपने विकल्पों के कारण दुःखी है, परपदार्थ के कारण नहीं। परवस्तु ने तुझे सुखी–दुःखी नहीं किया है, अपितु तूने स्वयं ही परवस्तुओं का अवलम्बन लेकर, उनमें नाना प्रकार की इष्ट–अनिष्ट कल्पनाएँ करके जो विभिन्न प्रकार के विकल्प किये हैं, उन अपने विकल्पों से ही तू दुःखी है। अतः तू परवस्तु में इष्ट–अनिष्टपने की अपनी मिथ्या मान्यता को छोड़ दे, तभी तू इन विकल्परूपी दुःखों से बच पाएगा।'

(ख) दूसरी ओर, जो जीव अपने विकल्पों को इष्ट–अनिष्ट मान रहा था, और उनके साथ तादात्म्य अनुभवन करने के फलस्वरूप उस विकल्पजाल से बाहर नहीं निकल पा रहा था, उसे आचार्यों ने शुद्ध–उपादान–दृष्टि की मुख्यता से कहा कि 'हे जीव! तू इन कर्मकृत विकल्पों का अथवा उनके साधनों/निमित्तों का कर्ता नहीं है, तू तो मात्र ज्ञाता–द्रष्टा, चैतन्य तत्त्व है। अतः तू स्वयं को उसीरूप देख, उसीरूप अनुभवन कर।'

(ग) प्रथम उदाहरण के विपरीत, जो निश्चयालम्बी जीव कुसंगति में पड़े हुए थे, परपदार्थों के निमित्तपने को स्वीकार न करते हुए स्वच्छन्द आचरण में रत थे, उन्हें निमित्त–दृष्टि की मुख्यता से उपदेश देते हुए, कुसंगति का 'दुष्प्रभाव' बतलाकर स्वच्छन्द होने से — अनर्गल आचरण करने से विमुख किया।

§ २.१४ 'अनुकूल' निमित्तों से जुड़ना और 'प्रतिकूल' निमित्तों से बचना — दोनों ही बातें मोक्षमार्ग में प्रयोजनभूत

निमित्त कर्ता नहीं होता, अतः वह हमें राग–द्वेष नहीं करा सकता — यह निर्विवाद सत्य है। यह जीव (उपादान) की स्वतंत्रता है कि वह परवस्तु का अवलम्ब ले अथवा न ले, किन्तु अपने आत्मबल की कमी के कारण अनजाने में ही — अनायास ही — हम अपने पूर्व संस्कारों के वशीभूत होकर, परवस्तु को मोह–राग–द्वेष का निमित्त बना लेते हैं। अतः जब तक हममें आत्मबल की कमी है, तब तक प्रतिकूल निमित्तों से बचना आवश्यक है — इसलिये नहीं कि ऐसा निमित्त हमें पतन के गर्त में ढकेल देगा, अपितु इसलिये कि अपने आत्मबल की कमी के कारण हम खोटी संगति के 'दुष्प्रभाव' से अपने आपको अछूता नहीं रख पाते (अर्थात् बुरी संगति से स्वयं को अप्रभावित नहीं रख पाते) और मोह–राग–द्वेशरूप परिणमन कर जाते हैं।

इस प्रकार, जहाँ यह हमारे हित में है कि हम प्रतिकूल निमित्तों से बचें, वहीं यह भी हमारे कल्याण के लिये है कि हम सुदेव–शास्त्र–गुरु आदि अनुकूल निमित्तों का अवलम्ब लेकर भेद–विज्ञान का पुरुषार्थ करें। यहाँ भी हमें सम्यक् वस्तुस्थिति को भली–भाँति समझ लेना चाहिये — वे हमारा कल्याण नहीं कर देंगे, अपितु हम देव–गुरु के वीतराग–आत्मस्थ स्वरूप का और शास्त्रों में प्रतिपादित सम्यक् तत्त्वज्ञान का आश्रय लेकर अपना कल्याण करना चाहें तो कर सकते हैं।

§ २.१५ उपस्थिति मात्र से किसी पदार्थ का निमित्तपना नहीं बनता — उसका अवलम्बन या आश्रय लेना ज़रूरी

'किसी कार्य के होने में वहाँ अनुकूल निमित्त अवश्य उपस्थित होता है' — ऐसा सोचकर हमें हाथ पर हाथ रखकर नहीं बैठ जाना चाहिये। जिसे अपने कार्य को करने की तीव्र रुचि या लगन होती है, वह तदनुकूल निमित्तों से चेष्टापूर्वक जुड़ने का पुरुषार्थ भी अवश्य करता है। यदि वह ऐसा नहीं करता तो निश्चित है कि उसमें तीव्र रुचि नहीं है। दूसरी ओर, यदि वह अनुकूल निमित्तों से जुड़ने का पुरुषार्थ सम्यक् रीति से करता है, तो ऐसा सोचकर नहीं कि निमित्त उसका कार्य कर देगा, बल्कि 'उपयुक्त निमित्तों के अभाव में मैं अपना कार्य करने में स्वयं को असमर्थ पाता हूँ' — उसका यह वस्तुस्थितिपरक अहसास ही उसे अनुकूल निमित्तों का संयोग प्राप्त करने के लिये प्रेरित करता है।

नियमसार में श्री कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं —

"सम्मत्तस्स णिमित्तं जिणसुत्तं तस्स जाणया पुरिसा।
अंतरहेऊ भणिदा दंसणमोहस्स खयपहुदी।। ५३।।"

अर्थात् सम्यक्त्व का निमित्त जिनसूत्र या द्रव्यश्रुतरूप तत्त्वज्ञान है; जिनसूत्र के ज्ञाता पुरुशों को भी तत्त्वनिर्णय का हेतु होने से सम्यक्त्व का अन्तरंग अर्थात् नज़दीकी हेतु कहा है, क्योंकि उन्हें द र्शनमोहनीयकर्म के क्षयादिक हैं। चूँकि जिनागम के, अथवा तत्त्वज्ञ पुरुशों के, संसर्ग मात्र से सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं हो सकती, अतः आचार्यश्री के इस कथन से स्पश्टतः ध्वनित होता है कि जब तक हम ऐसे निमित्तों का अवलम्ब या आश्रय लेकर सम्यक् प्रकार से पुरुशार्थ नहीं करेंगे, तब तक उन निमित्तों की उपस्थिति मात्र हमारे लिये कार्यकारी नहीं हो सकेगी।

समयसार, गाथा २७६ की *आत्मख्याति* व्याख्या में अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं — *"आचारांग आदि भाब्दश्रुत है सो ज्ञान है क्योंकि वह* ***ज्ञान का आश्रय*** *है; जीव आदि नवपदार्थ हैं वे द र्शन हैं क्योंकि वे* ***द र्शन के आश्रय*** *हैं; छह जीवनिकायों की रक्षा है सो चारित्र है क्योंकि वह* ***चारित्र का आश्रय*** *है।"*

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने *समयसार* में कहा है —

"वत्थुं पडुच्च जं पुण अज्झवसाणं तु होदि जीवाणं।
ण य वत्थुदो दु बंधो अज्झवसाणेण बंधोत्थि।। २६५।।"

अर्थात् यद्यपि बाह्यवस्तु से बन्ध नहीं होता, अध्यवसान से ही बन्ध होता है, तथापि वह अध्यवसान बाह्य वस्तु को अवलम्ब करके ही होता है। आत्मख्यातिकार ने व्याख्या करते हुए शंकाकार द्वारा प्रश्न उठवाया है कि 'यदि बन्ध ही अध्यवसान का कारण है, तो फिर परवस्तु का त्याग क्यों कराया गया है?' उत्तर दिया है कि अध्यवसान का आश्रय अथवा आधार परवस्तु होती है, उसका आश्रय किये बिना अध्यवसान उत्पन्न नहीं होता। यदि बाह्यवस्तु के आश्रय के बिना भी अध्यवसान उत्पन्न होता, तो जैसे आश्रयभूत वीरजननी के पुत्र के सद्भाव में किसी को ऐसा अध्यवसान उत्पन्न होता है कि 'मैं वीरजननी के पुत्र को मारता हूँ', वैसे ही आश्रयभूत वंध्यापुत्र के असद्भाव में भी किसी को ऐसा अध्यवसान उत्पन्न होना चाहिये कि 'मैं वंध्यापुत्र को मारता हूँ'; परन्तु ऐसा अध्यवसान तो किसी को पैदा नहीं होता।

प्रवचनसार की *तत्त्वप्रदीपिका* टीका में, चरणानुयोगसूचक–चूलिका अधिकार के प्रारम्भ में, मुमुक्षु द्वारा श्रमण अवस्था अंगीकार करने के प्रकरण के अन्तर्गत श्री अमृतचन्द्राचार्य की निम्नोक्त पंक्तियाँ देखने योग्य हैं —

(बंधुवर्ग से विदा लेने के उपरान्त, मुमुक्षु कहता है कि) *"अहो काल–विनय–उपधानादि–स्वरूप अष्टांग–ज्ञानाचार! अहो निःशंकितत्व–निःकांक्षितत्वादि–स्वरूप अष्टांग–दर्शनाचार! अहो मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति के कारणभूत*

पंचमहाव्रत–त्रिगुप्ति–पंचसमिति–स्वरूप त्रयोदशांग–चारित्राचार! अहो अनशन–अवमौदर्यादि–स्वरूप द्वादशांगात्मक–तपाचार! अहो समस्त आचार में प्रवृत्ति कराने वाली स्वशक्ति के अगोपन–स्वरूप वीर्याचार! मैं यह निश्चय से जानता हूँ कि ***तुम सब शुद्धात्मा के नहीं हो तथापि तुम्हें तब तक अंगीकार करता हूँ जब तक कि तुम्हारे प्रसाद से शुद्धात्मा को उपलब्ध कर लूँ।"*** (श्रामण्य का अर्थी इस प्रकार पंचाचार को ग्रहण करता है।)

यहाँ, "तुम शुद्धात्मा के नहीं हो" — इस कथन के द्वारा आचार्य ने व्यवहार रत्नत्रय को परावलम्बन अथवा बन्ध का कारण बताया है। तथा "तुम्हें अंगीकार करता हूँ" और "तुम्हारे प्रसाद से" — इन वाक्यांशों द्वारा व्यवहार रत्नत्रय के साधनपने को, निमित्तपने को सूचित किया है। पुनश्च, आचार्य ने ऐसा नहीं कहा कि 'वे (पंचाचार) मुझे स्वरूप को प्राप्त करा दें, अथवा उनके माध्यम से स्वरूप मुझे स्वतः प्राप्त हो जाए'; प्रत्युत, ऐसी भ्रमपूर्ण धारणाओं का निशेध उनके इस कथन में गर्भित है — "तुम्हारे प्रसाद से मैं शुद्धात्मा को उपलब्ध कर लूँ" अर्थात् तुम्हारे अवलम्बपूर्वक मैं अपने पुरुषार्थ को जाग्रत करूँ और उस पुरुषार्थ के द्वारा स्वरूप को उपलब्ध कर लूँ।

§ २.१६ क्या निमित्त को 'जुटाना' या 'हटाना' सम्भव है?

एक प्रश्न यह भी उत्पन्न हो सकता है — क्या हम निमित्त को 'जुटा' या 'हटा' सकते हैं? उत्तर है कि यद्यपि द्रव्यदृष्टि की अपेक्षा से तो यह कार्य जीव का नहीं है और वह द्रव्यदृष्ट्यपेक्षा यह कार्य कर भी नहीं सकता; तथापि पर्यायदृष्टि की अपेक्षा हम अपने योग–उपयोग के ज़िम्मेदार हैं और उस योग–उपयोग के निमित्त से होने में समर्थ कार्य सम्पन्न हुआ करते हैं; अतः पर्यायदृष्टि की अपेक्षा जीव को 'निमित्त को जुटाने या हटाने वाला' भी कहा गया है और ऐसा करने के लिये उपदेश भी दिया गया है। पुनरावृत्ति–दोष की चिन्ता किये बगैर यहाँ यह दोहराया जाना आवश्यक लगता है कि हमारे द्वारा 'जुटा' लिये जाने पर भी अर्थात् हमारे द्वारा उसका संयोग प्राप्त कर लेने पर भी, अनुकूल निमित्त तभी कार्यकारी होगा जब हमारे उपादान में निज साध्य के अनुरूप परिणमन करने की योग्यता हो — उपादान के किसी भी विवक्षित कार्य के लिये निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध तभी बन सकेगा जब **'कार्यानुकूल निमित्त'** के साथ–साथ **'कार्यानुरूप उपादान'** भी तैयार हो।

ऐसा भी है कि मोक्षमार्ग में जब उपादान निज साध्य/कार्य के अनुरूप **सम्पूर्णरूप से तैयार** होता है तब उसे निमित्त–विशेष को जुटाने की आवश्यकता भी नहीं पड़ती — वह अपने चारों ओर उपस्थित (अथवा, वर्तमान में अनुपस्थित

होते हुए भी, निज स्मृति, कल्पना आदि के माध्यम से उपस्थित किये गए) असंख्य जड़–चेतन पदार्थों में से किसी भी उपयुक्त पदार्थ का अवलम्ब लेकर, उसे निमित्त बनाकर अपना कार्य कर लेता है। जैसे, निज उपादान की परिपक्वता के बलपूर्वक शिवभूति मुनि ने छिलके और दाल की भिन्नता को देखकर भेद–विज्ञानरूपी निजकार्य को सम्पन्न कर लिया।

स्वयं को जानने के लिये वस्तुतः किसी निमित्त की आवश्यकता नहीं है, परन्तु उपादान में स्वयं को जानने की योग्यता जाग्रत करने के लिये तदनुकूल निमित्त की आवश्यकता होती है। हममें इतनी सामर्थ्य नहीं है कि हम बिना किसी अवलम्ब के, सीधे आत्म–साक्षात्कार कर सकें। अतः जब तक हममें ऐसी योग्यता प्रकट नहीं हुई है, तब तक हम देव–शास्त्र–गुरु का अवलम्बन लेते हैं। इसके पश्चात भी, जब यह जीव इतना समर्थ हो जाता है कि बिना किसी अवलम्ब के भी स्वानुभवन कर सके, तब भी यह देव–शास्त्र–गुरु का अवलम्ब लेता है। अन्तर केवल इतना है कि पहले, अज्ञानावस्था में यह निजपरिणामों में भेद–विज्ञान की पुष्टि के लिये, आत्मानुभूति के सम्मुख होने के लिये उनका अवलम्ब लेता था, और अब अपने परिणामों को नीचे गिरने से रोकने के लिये भी उनका अवलम्ब लेता है — क्योंकि देव–शास्त्र–गुरु केवल भेद–विज्ञान के ही नहीं, अपितु चारित्र–साधना के भी निमित्त हैं।

जहाँ तक देव–शास्त्र–गुरु को 'इष्ट निमित्त' कहे जाने का प्रश्न है, यह स्पष्ट ही है कि ऐसा उपचार से कहा जाता है; क्योंकि विचार करने पर हम पाते हैं कि हमारे लिये इष्ट अथवा ध्येय वास्तव में देव–शास्त्र–गुरु नहीं, अपितु वीतरागता है। इसी प्रकार, कुदेवादिक वस्तुतः 'अनिष्ट' भी नहीं हैं, परन्तु उनमें जीव के मिथ्यात्व व कषायरूप परिणमन का अनुकूल निमित्तत्व पाए जाने के कारण उन्हें उपचार से अनिष्ट कहा जाता है। तत्त्व–जिज्ञासुओं को केवल ऐसे उपचार को ही मिथ्या समझना चाहिये, न कि उस–उस निमित्तपने को भी। पुनश्च, धरणेन्द्र–पद्मावती आदि में भी भेद–विज्ञान का निमित्त बनने की योग्यता का नितान्त अभाव है, उन्हें मिथ्यात्व तथा रागवृद्धि का निमित्त अवश्य बनाया जा सकता है; इसीलिये उनका अवलम्ब लेने का भी निषेध किया जाता है। यहाँ भी यही समझना चाहिये कि यद्यपि वे हमें मिथ्यात्व–कषायरूप परिणमित नहीं कर सकते, तथापि यदि हम उनका अवलम्ब लेंगे तो अपने मिथ्यात्व–कषाय की पुष्टि अवश्य कर लेंगे।

§ २.१७ द्रव्यकर्म और चेतन–परिणामों के बीच होने वाला दोतरफ़ा निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध

जीवप्रदेशों के साथ एकक्षेत्रावगाह को प्राप्त हुई कार्मण वर्गणाएँ, जीव के परिणामों के निमित्त से ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमित हुआ करती हैं। जीवप्रदेशों के साथ बँधते हुए इन आठ कर्मों में, स्थिति और अनुभाग की हीनाधिकता भी जीव के विकारी परिणामों के अनुसार ही होती है — परिणामों में जितना कषाय–अंश होता है, उसी अनुपात में कर्मों में स्थिति–अनुभागांश पड़ते हैं।

यह निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध इकतरफ़ा नहीं, बल्कि दोनों तरफ़ से है। जहाँ, एक तरफ़, जीव के कषायादिभावरूप निमित्त के सद्भाव में कार्मण वर्गणाएँ अष्टकर्मरूप (नैमित्तिकरूप) परिणमन करती हैं; वहीं, दूसरी तरफ़, पूर्वबद्ध कर्म के उदयरूप निमित्त के सद्भाव में जीव रागादिकरूप (नैमित्तिकरूप) परिणमन करता है। परन्तु अपनी भ्रमपूर्ण धारणा के कारण, इस दूसरी तरफ़ के निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध को हमने कर्ता–कर्म सम्बन्ध मान रखा है, और अपनी स्वतंत्रता को भुलाकर स्वयं को कर्मों के आधीन बना रखा है। वस्तुतः यह जीव अपनी शक्ति को भूल गया है कि 'मैं चेतनायुक्त पदार्थ हूँ — मुझमें आत्मशक्ति है।' इसकी जितनी आत्मशक्ति वर्तमान में है, उसे यह अपनी इच्छानुसार प्रयोग कर सकता है; इसलिये उतने रूप में यह स्वतंत्र है। तथा, जितनी शक्ति का वर्तमान में अभाव है, उसकी प्राप्ति के लिये — अर्थात् आत्मशक्ति को बढ़ाने के लिये — यह पुरुषार्थ कर सकता है। इतना अवश्य है कि ऐसा पुरुषार्थ क्रम–क्रम से, गुणस्थानों के अनुसार ही होना सम्भव है।

शुद्ध आत्मा का, सिद्धात्मा का स्वाभाविक परिणमन पर–निरपेक्ष है। परन्तु, संसारी आत्मा का वैभाविक परिणमन परनिरपेक्ष नहीं होता; विकारी परिणमन में पर का निमित्तपना होना ज़रूरी है। अन्यथा, वह विकार जीव का स्वभाव ठहर जाएगा, और फिर उसका कभी अभाव न हो सकने का प्रसंग आ खड़ा होगा। उदाहरण के लिये, माणिक्य का स्वाभाविक लालिमायुक्त परिणाम पर–निरपेक्ष है; जबकि स्फटिकमणि का लालिमायुक्त परिणमन परनिमित्तक है, जपापुष्प आदि परपदार्थ के निमित्त से है — अतः विकार है; और इसीलिये मिट भी सकता है। परनिमित्तक विकार के मिट जाने पर स्फटिकमणि अपने स्वाभाविक निर्मल परिणाम को पुनः प्राप्त कर लेती है।

अष्टकर्मों में से जो चार अघातिकर्म हैं, उनके उदय का निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध मुख्यतः पौद्गलिक पदार्थों तक सीमित है, क्योंकि अधिकांश अघातिकर्मप्रकृतियाँ पुद्गलविपाकी हैं। अतः उनके उदयकाल में शरीरादिक की तथा अन्य संयोगों की उदयानुसार परिणति होती है। प्रकृत में तो उन्हीं कर्मों की चर्चा है जो जीवविपाकी हैं, जिनका फल आत्मा की आन्तरिक शक्तियों से सम्बन्धित है, अर्थात् मुख्यतः चार घातिकर्म, और उनमें भी विशेषरूप से मोहनीय कर्म, जो कि जीव के संसार का मूल कारण है। विचार करने पर हम पाते हैं कि जीव यहाँ भी अपने परिणमन में स्वतन्त्र है; अतः वह रागादिभावरूप जैसा

परिणमन करे और जितना परिणमन करे, उतना ही मोहनीय कर्म का उदय माना जाता है।

सर्वार्थसिद्धि में श्री पूज्यपाद आचार्य ने 'उदय' की परिभाषा इस प्रकार की है — ***'द्रव्यादिनिमित्तवशात्कर्मणां फलप्राप्तिरुदयः'*** अर्थात् जीव के द्वारा द्रव्यादि निमित्त के अनुसार कर्मफल की प्राप्ति उदय है *(अ० २, सू० १)*। 'द्रव्यादि निमित्त' का अभिप्राय द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव से है *(स० सि०, अ० ६, सू० ३६)*। इनमें से पहले चार — द्रव्य, क्षेत्र, काल और भव — की प्रासंगिकता तो मुख्यतः अघातिकर्मों के सन्दर्भ में हैं। मोहनीय कर्म के सन्दर्भ मे तो जीव के 'भाव' या परिणाम ही प्रासंगिक हैं, अतः उक्त परिभाषा का आ ाय है कि ***जीव के परिणामों के अनुसार जो फलप्राप्ति हो, वह उदय है।*** ध्यान देने योग्य है कि आचार्य का आशय 'जो उदय हो, वह फलप्राप्ति है' — ऐसा नहीं है।

आचार्य पूज्यपाद के उक्त कथन में करणानुयोग का यह नियम अन्तर्निहित है कि कर्म के उदय, उदीरणा, संक्रमण, उपशम, क्षयोपशम आदि अवस्थाएं जीवपरिणामरूपी हेतु के अनुसार ही होते हैं। अतएव **'शेष द्रव्यकर्म का क्या हुआ, जिसका फल जीव ने नहीं लिया?'** इस प्रश्न का उत्तर यही बनता है कि **जीव के परिणामरूपी पुरुषार्थ के अनुरूप उसका उदयाभावी क्षय हो गया, अर्थात् वह देशघाति आदि रूप से संक्रमित हो गया।** करणानुयोग के अनुसार, मात्र उदयावलिकाल को छोड़कर, उदीयमान कर्मों के स्थिति–अनुभाग में अपकर्षण, उत्कर्षण आदि परिवर्तन जीव के वर्तमान पुरुषार्थ के अनुसार सदाकाल चलते रहते हैं। अतः **उदीयमान कर्म का, हम अपने विशुद्धि की ओर बढ़ते परिणामों के अनुरूप, जितना फल लेते हैं, उतना 'उदय' कहलाता है और शेष का 'उदयाभावी क्षय' कहलाता है।** दूसरी ओर, **यदि हम संक्लेशमय परिणाम करते हैं, तो जितना उदीयमान कर्म है, चूँकि हम उसके अनुपात से भी ज़्यादा कषाय, अपने अंतरंग रुझान के वश, कर डालते हैं, इसलिये आगामीकाल में उदय में आने वाले जो कर्म–निषेक थे, उनका भी समयपूर्व उदय हो जाता है — अर्थात् उनकी 'उदीरणा' हो जाती है।**

इस प्रकार, यह हम पर ही निर्भर करता है कि हम कितना फल लेते हैं — कम या ज़्यादा।

§ २.१८ कर्मोंसे बँधे जीव की एकदे ा स्वतंत्रता

ऊपर की चर्चा के अनंतर, यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि 'क्या ऐसा सम्भव नहीं है कि जीव बिल्कुल भी कषाय न करे, अर्थात् मोहनीय कर्म के उदय का

बिल्कुल भी फल न ले?' इसका उत्तर है कि इसके लिये सम्पूर्ण आत्म ाक्ति की आव यकता है; जबकि वस्तुस्थिति यह है कि हममें वर्तमान में जितनी आत्म ाक्ति है, हम उसे भी पूरी तरह चेतना में नहीं लगाते। यदि सही पुरुषार्थ करते हुए पूरी तरह लगा भी दें, तो भी उतना ही 'उदयाभावी क्षय' होगा जितना कि वर्तमान गुणस्थान के अनुसार सम्भव है। **किसी साधक द्वारा पुरुषार्थ की वि ोश प्रबलता से यदि उससे भी अधिक आत्म ाक्ति लगाई जाती है तो उसका गुणस्थान–परिवर्तन भी हो सकता है।**

चौथे गुणस्थान वाले जीव की जितनी आत्म ाक्ति होती है, वह उतनी ही लगा सकता है। वहाँ पर जो राग–द्वेशादि होते है वे उसके आत्मबल की कमी के कारण होते हैं। अतः उसे आत्मबल की कमी के अनुपात में फल ग्रहण करना पड़ता है — तब उपचार से कहा जाता है कि 'कर्म ने फल दिया'। दूसरी ओर, जब ऐसा जीव आत्मानुभवनरूपी पुरुशार्थ के बार–बार प्रयोग से अपनी भाक्ति बढ़ा लेता है, तब बहिरंग में तो यह अणुव्रत/महाव्रतरूप आचरण को अंगीकार करता है और अन्तरंग में इसकी अप्रत्याख्यानावरण कशाय का संक्रमण होकर प्रत्याख्यानावरण कशायरूप उदय रह जाता है (अथवा, अप्रत्याख्यानावरण एवं प्रत्याख्यानावरण, दोनों कशायों का संक्रमण होकर संज्वलन कशायरूप उदय रह जाता है) — क्योंकि इसने अब इतना आत्मबल संचित कर लिया है कि वह तद्रूप फल नहीं लेता। इस प्रकार, यह जीव एकदे ातः स्वतन्त्र है।

§ २.१६ जीव का सम्यक् पुरुषार्थ और मोहनीयकर्म की विपाकशक्ति — दोनों के बीच चलने वाली सतत रस्साक़शी

कर्मोदय से यह जीव कितना प्रभावित होता है या नहीं होता — मोक्षमार्ग के सन्दर्भ में यह कर्म के हाथ में न होकर, मुख्यतः जीव के आत्मबल पर निर्भर करता है। *प्रवचनसार* के टीकाकार जयसेनाचार्य ने लिखा है — ***'द्रव्यमोहोदयेऽपि सति यदि शुद्धात्मभावनाबलेन भावमोहेन न परिणमति तदा बन्धो न भवति'*** अर्थात् द्रव्यमोह का उदय होने पर भी यदि शुद्धात्म–भावना के बल से जीव भावमोहरूप परिणमन नहीं करता तो बन्ध नहीं होता।

[गाथा ४५ (पुण्णफला अरहंता . . .), तात्पर्यवृत्ति टीका]

यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या पौद्गलिक कर्म में कोई फलदानशक्ति है, अथवा वह अतीतकाल में जीव के द्वारा की गई कषायों की तीव्रता–मन्दता को मापने वाला कोई यन्त्र मात्र है, कुछ वैसे ही, जैसे कि थर्मामीटर भारीर में बुख़ार की तीव्रता–मन्दता को मापने वाला एक यन्त्र है? इस प्रश्न का उत्तर कुछ उदाहरणों के माध्यम से समझने में सरल रहेगा। जैसे कि पृथ्वी में गुरुत्वाकर्षण

शक्ति है, जो कोई भी पौद्‌गलिक पदार्थ उस शक्ति के दायरे के भीतर होता है, उसे वह अपनी ओर खींचती है; ऐसे ही, मोहनीय कर्म में भी संसारी, कर्मबद्ध आत्मा को रागद्वेषरूप परिणमन की ओर खींचने की शक्ति है।

अथवा, जैसे चुम्बक में लौहपदार्थ को अपनी ओर खींचने की शक्ति है। उधर, लौहपदार्थ में भी अपने वज़न के अनुपात में उस चुम्बकीय आकर्षणशक्ति की विरोधिनी एक शक्ति है। अब, चुम्बकीय शक्ति की अपेक्षा लौहपिण्ड की विरोधिनी शक्ति यदि कम है तो लोहे को चुम्बक की ओर खिंचना पड़ेगा। दूसरी ओर, चुम्बकीय शक्ति यदि तुलना में कम है तो चुम्बक लोहे को अपनी ओर खींचने में असमर्थ रहेगा।

अथवा, मान लीजिये कि एक आदमी किसी दूसरे आदमी का हाथ पकड़ कर खींच रहा है। यहाँ, दो संभावनाएं बनती हैं। पहली यह कि दूसरा आदमी खुद भी उधर ही जाना चाहता हो — तब तो दोनों की शक्ति जुड़कर, कुल शक्ति दुगुनी हो जाएगी। दूसरी संभावना यह है कि दूसरा आदमी उधर नहीं जाना चाहता हो, बल्कि पहले आदमी के खिंचाव से विपरीत दिशा में अपनी शक्ति को लगाता हो — तब गणित के नियमानुसार, पहले आदमी की खिंचाव–शक्ति में से दूसरे आदमी की विरोधी–शक्ति को घटाना पड़ेगा। यहाँ, पुनः दो संभावनाएं बनती हैं। यदि दूसरे आदमी की शक्ति, पहले की अपेक्षा ज़्यादा है, अथवा बराबर है, तब तो उसे खींचा नहीं जा सकेगा। इसके विपरीत, यदि दूसरे आदमी की शक्ति, पहले की अपेक्षा कम है, तो उसका मात्र उतना ही खिंचाव होगा जितनी कि उसकी भाक्ति में कमी रह गई।

इस उदाहरण द्वारा जीव और मोहनीय कर्म के पारस्परिक सम्बन्ध को ठीक तरह से समझा जा सकता है। मोहनीय कर्म में खींचने की भाक्ति मानना भी ज़रूरी है, और जीव में खिंचकर जाने की भाक्ति भी स्वीकार करनी पड़ेगी — तभी इनमें निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध बन सकेगा। मिथ्यादृष्टि जीव मोहकर्म के खिंचाव की ओर जाना चाहता है, अतः उसकी स्वयं की शक्ति/पुरुषार्थ एवं मोहकर्म की विपाकशक्ति — ये दोनों मिलकर दुगुनी होकर एक ही दिशा में कार्य करते हैं। इसके विपरीत, सम्यग्दृष्टि जीव कर्मोदय के साथ नहीं बहता और उसका यथाशक्ति विरोध करता है — आत्म–स्वभाव का आश्रय लेता है — अतः कर्म का खिंचाव भी उसी अनुपात में कम हो जाता है। पुनश्च, शुद्धात्मभावना/साधना के द्वारा साधक जीव का आत्मबल जैसे–जैसे बढ़ता है, कर्मों की शक्ति भी वैसे–वैसे ही क्षीण होती जाती है।

§ २.२० 'जीवविपाकी' कर्मों की भावात्मक

व्याख्या — 'संस्कार' की भाषा में

हम मन के द्वारा जो कुछ भी विचारते हैं, वाणी के द्वारा जो कुछ भी बोलते हैं, शरीर के द्वारा जो कुछ भी करते हैं — उस सभी में हमारे योग–उपयोग का जुड़ाव होने से, वह हमारा कर्म कहलाता है। वह कर्म, कार्य या परिणाम यद्यपि यथासमय समाप्त हो जाता है, तथापि वह हमारी चित्तभूमि पर अपनी एक 'छाप' छोड़ जाता है, अपना एक 'पदचिह्न' छोड़ जाता है — इसे ही 'संस्कार' नाम से पुकारा जाता है। चित्तभूमि पर 'अंकित' इन संस्कारों में हमारे उक्त कार्य या परिणाम अप्रकट रूप से मौजूद रहते हैं, और यथोचित बाह्याभ्यन्तर निमित्तों का संयोग पाकर प्रकट या व्यक्त हो जाते हैं। संस्कारों के रूप में अव्यक्त पड़े हुए हमारे पूर्वकृत परिणामों की यह पुनर्व्यक्तता ही, कर्म–सिद्धान्त की भाषा में 'कर्मोदय' है। इस प्रकार, **द्रव्यकर्म — अन्य कुछ नहीं — मात्र इस जीव के संस्कारों का प्रतिनिधित्व करते हैं; जैसे जीव के संस्कार, वैसे ही द्रव्यकर्म होते हैं।**

पूर्वसंचित संस्कारों का कुछ भाग कर्मोदय के फलरूप से व्यक्त होकर व्यय होता रहता है, किन्तु शेष भाग चित्त के कोष में सुरक्षित पड़ा रहता है। इस प्रकार, प्रत्येक जीव अपने पूर्व संस्कारों से प्रेरित होता रहता है। किसी विशेष पूर्वसंस्कार से प्रेरित होकर, यदि यह जीव पुनः पुनः तदनुरूप परिणमन करता रहता है, तो उस जाति का संस्कार और भी गहरा पड़ जाता है — यही कर्म–सिद्धान्त की भाषा में उस जाति के कर्म के 'स्थिति और अनुभाग की तीव्रता का बढ़ना (उत्कर्शण)' है। अज्ञानी जीव किस प्रकार अपने अविद्यारूपी संस्कार को पुनः पुनः दृढ़ करता जाता है, इसका स्पष्ट वर्णन श्री पूज्यपाद स्वामी ने *समाधिशतक* में किया है :

"चूँकि बहिरात्मा इन्द्रियरूपी द्वारों से बाह्य पदार्थों के ग्रहण करने में प्रवृत्त हुआ आत्मज्ञान से पराङ्मुख होता है, इसलिये देह को ही आत्मा समझता है; मनुष्य देह में स्थित आत्मा को मनुष्य, और तिर्यंच देह में स्थित आत्मा को तिर्यंच, इत्यादि समझता है; अपने शरीर के समान दूसरे के शरीर को देखकर, उसे पर का आत्मा मानता है। इस विभ्रम के पुनः पुनः प्रवृत्तिरूप अभ्यास से अविद्या नामक संस्कार इतना दृढ़ हो जाता है जिसके कारण यह अज्ञानी जीव जन्म–जन्मान्तर में भी शरीर को ही आत्मा मानता है।" *(स० भा०, छन्द सं० ७, ८, १०, १२)*

इस प्रकार, हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कर्म–सिद्धान्त की भाषा में जो 'जीवविपाकी कर्म' हैं — और उनमें भी विशेष रूप से मोहनीयकर्म की विभिन्न प्रकृतियाँ — उन्हें 'चित्तभूमि' पर 'अंकित' संस्कारों की उक्त भाषा के माध्यम से भी समझा जा सकता है। पूर्व संस्कारों की प्रेरणा से बचने का उपाय मुख्यतः जीव का अपना पुरुषार्थ ही है।

§ २.२१ अविद्यारूपी संस्कारों को मिटाने के सम्यक् हेतु — भेद–विज्ञान के संस्कार

अनादिकाल से रागद्वेष करते चले आने के कारण आत्मा पर रागद्वेष के संस्कार इतने गहरे हो गए हैं कि हम अपने ही संस्कारों के आधीन हो गए हैं। फलस्वरूप, न चाहते हुए भी हम कषायरूप परिणमन कर जाते हैं। संस्कारों की यह आधीनता हमने स्वयं पैदा की है। अब इन संस्कारों को तोड़ने के लिये, इनसे विपरीत संस्कारों अर्थात् भेदज्ञान के संस्कारों को ग्रहण करना होगा। **शरीरादिक परपदार्थों के प्रति एकत्वभाव के संस्कारों को मिटाने के लिये, उनके प्रति भिन्नत्व के संस्कारों को डालने का सतत पुरुषार्थ करना होगा।**

जितनी गहराई से इस जीव ने अनादि से शरीर में एकत्व की भावना भाई है, उतनी ही गहराई से, बल्कि उससे भी अधिक गहराई से, शरीर के प्रति अन्यत्व की भावना भानी होगी — तभी वे संस्कार टूटेंगे। (विपरीत संस्कारों के टूटने को ही आगमभाशा में निर्जरा कहा गया है)। जैसे, यदि कोई काँटा चुभ जाए तो उसे निकालने के लिये, सूई को काँटे की लम्बाई से भी ज़्यादा गहराई में ले जाकर, उसे निकालना पड़ता है। वैसे ही, शरीर के प्रति एकत्वभाव के संस्कार को तोड़ने के लिये, उससे भिन्नत्व का संस्कार कहीं अधिक गहरा होना चाहिये। यदि निज चित्तवृत्ति का ईमानदारी से विश्लेषण करें तो पाएँगे कि चूँकि हम उतना पुरुषार्थ नहीं करते, इसी कारण हमारा पुराना संस्कार नहीं टूटता।

जब यह जीव शरीरादिक परपदार्थों को अपनेरूप देखता है, उस समय दो बातें एक–साथ होती हैं — (१) पूर्वसंचित अविद्यारूपी संस्कार व्यक्त होता है, अथवा दर्शनमोहनीय कर्म की उदयरूप अवस्था होती है; तथा (२) वही अविद्या–संस्कार फिर से मज़बूत हो रहा होता है, अथवा मिथ्यात्वकर्म का नूतन बन्ध हो रहा होता है। दूसरी ओर, कदाचित् मन्द उदय की स्थिति में, जब यह जीव सम्यक् उपदेश के अवलम्बपूर्वक अपने को शरीरादिक परपदार्थों से भिन्न, चेतनपदार्थरूप विचारने की, चिंतवन करने की चेष्टा करता है, तो अविद्यारूपी वह अनादिसंस्कार हलका होने लगता है। जब यह अपनी पूरी शक्ति लगाकर, भरसक चेष्टा करता है — सम्यक् तत्त्वचिंतवन में अपना पूरा उपयोग लगाता है — तो प्रायोग्यलब्धि को प्राप्त हो जाता है। उस तत्त्वचिंतवन के दौरान, वह अविद्यारूपी संस्कार अथवा मिथ्यात्वकर्म और ढीला पड़ने लगता है। उसके अनन्तर, जब यह जीव अपने को मात्र अपनेरूप देखने की ओर, निजसत्तावलोकन की ओर सम्यक् रूप से अग्रसर होता है, तो करणलब्धि को प्राप्त हो जाता है; यह जीव प्रथम बार निजस्वभाव का दर्शन करता है, प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टि हो जाता है — **जिस प्रकार कि आगे बढ़ने पर किसी कक्ष का स्वचालित (automatic) द्वार स्वयमेव**

खुल जाता है, परन्तु आगे न बढ़ने पर वह द्वार बंद पड़ा रहता है, ठीक इसी प्रकार से मिथ्यात्वकर्मरूपी द्वार का कार्य है; जो पुरुशार्थ के द्वारा आगे बढ़ता है, उसे मार्ग मिल जाता है।

§ २.२२ अध्यात्म और करणानुयोग की कथनशैलियाँ — परस्पर विरोधी नहीं, प्रत्युत एक–दूसरे की सम्पूरक

अध्यात्मशास्त्र और करणानुयोग उपर्युक्त विषय को अलग–अलग दृष्टिकोणों से प्रस्तुत करते दिखाई पड़ते हैं। जीव के कषायरूप परिणमन का कारण अध्यात्मदृष्टि से जहाँ उसके आत्मबल की कमी को माना जाएगा, वहीं करणानुयोग की कथनशैली कदाचित् कर्मोदय की प्रबलता को उत्तरदायी ठहराती प्रतीत होती है। दृष्टिकोण अलग–अलग होते हुए भी अभिप्राय दोनों अनुयोगों का एक ही है। अध्यात्मशास्त्रों में जो कथन किया गया है, वह साधक के बुद्धिगम्य परिणामों को, और उनकी संभाल रखने के लिये उत्तरदायी जो उसका बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ है, उसी को दृष्टि में रखकर किया गया है।

साधक जीव के शुद्धात्मभावना–विषयक उत्साह को वृद्धिंगत करने के अभिप्राय से अध्यात्म ाास्त्र चेतनाशक्तिसम्पन्न जीव के पुरुषार्थ की मूलभूत स्वतन्त्रता का दुन्दुभिघोष करते हैं — जिससे कि साधक जितना पुरुषार्थ कर सकने में वर्तमान में समर्थ है उतना भरपूर करता रहे। दूसरी ओर, करणानुयोग भी हमें यही सम्बोधन देता हुआ प्रतीत होता है कि 'हे जीव! तूने अपने परिणामों से ही इन कर्मों को बाँधा है और अपने परिणामों से ही तू इनसे मुक्त हो सकता है।' अतएव करणानुयोग भी हमें संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव की मूलभूत स्वतंत्रता की उद्घोषणा करता हुआ ही दिखाई देता है।

इस प्रकार, दोनों अनुयोगों का एक ही अभिप्राय है। यदि यह जीव पूर्णरूप से स्वतन्त्र नहीं है तो इसका एकमात्र कारण इसके आत्मबल की कमी है; कर्मरूपी निमित्त का उसमें कोई दोश नहीं है। आत्मबल घटाना या बढ़ाना इस जीव के अपने हाथ में है, यदि यह चाहे तो पुरुशार्थपूर्वक आत्मबल बढ़ा सकता है। यद्यपि यह बात सत्य है कि आत्मबल जीव के गुणस्थानों के अनुसार क्रम–क्रम से ही बढ़ता है, तथापि यह भी सत्य है कि यदि यह जीव आत्मबल को बढ़ाने का सही पुरुशार्थ नहीं करता तो उसके लिये यह स्वयं उत्तरदायी है।

§ २.२३ कारण और साधन में मौलिक अन्तर; एवं व्यवहार रत्नत्रय का साधनत्व/निमित्तत्व

शरीर के साथ मिथ्या–एकानुभूति के अनादिकालीन संस्कार को तोड़ने के लिये जिस विरोधी संस्कार की आवश्यकता पड़ती है, उसी का नाम स्वानुभवन है, और वही निर्जरा का कारण है। ध्यान देने योग्य है कि कारण और साधन की परिभाषाओं में, अवधारणाओं में मूलभूत अन्तर है। **कारण उसे कहते हैं जिसके सद्भाव में विवक्षित कार्य का निष्पन्न होना निश्चित हो तथा जिसके अभाव में वह कार्य उत्पन्न न हो सके।** जैसे, सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र की सम्पूर्णता मोक्षरूपी कार्य का कारण है। इस प्रकार, हम पाते हैं कि 'कारण' वस्तुतः और कुछ नहीं, अपितु उपादान की परिणति–विशेष ही है — वह विशिष्ट अंतरंग परिणति जो कि विवक्षित कार्यरूपी परिणाम को उत्पन्न करने में समर्थ हो।

दूसरी ओर, **साधन अथवा निमित्त उसे कहते हैं जिसका अवलम्ब लेकर हम अपने उपादान के भीतर कारण–रूप निजपरिणति को जाग्रत कर सकें, और फिर, उस (कारण–रूप निजपरिणति) के फलस्वरूप विवक्षित कार्यरूप निजपरिणाम को प्राप्त कर सकें।** जैसे, सुदेव–शास्त्र–गुरु मोक्षमार्ग के साधन अथवा निमित्त हैं। देवदर्शन, आगमाध्ययन, गुरूपदेश–श्रवण आदि के द्वारा हम अपने अन्तरंग में भेद–विज्ञान की रुचि जाग्रत कर सकते हैं, और भेद–विज्ञान की भावना को अपने अंतस् में प्रबलता से भाते हुए आत्म–सम्मुख होने पर, हम सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूपी विवक्षित कार्य को, साध्यरूप निज परिणति को प्राप्त कर सकते हैं।

इस प्रकार यह सुस्पष्ट है कि देव–शास्त्र–गुरु मोक्षमार्ग के साधन हैं, कारण नहीं। यह भी ध्यान रखना चाहिये कि शास्त्रों में कईं स्थलों पर श्रोता–वि ोश की योग्यता आदि को दृष्टि में रखते हुए, प्रयोजनवश साधन–विशेष को मुख्य करते हुए, आचार्यों ने साधन को उपचार से कारण भी कहा है। देव–शास्त्र–गुरु वस्तुतः साधन भी उसी व्यक्ति के लिये हैं जो उनका अवलम्ब लेकर भेद–विज्ञान की रुचि जाग्रत करने का पुरुषार्थ करता है। इसीलिये, एक ओर तो जो (निश्चयावलम्बी) व्यक्ति इन्हें साधन भी नहीं मानता था, उसे आचार्यों ने इनके साधनत्व के बारे में भली–भाँति समझा कर, इनका अवलम्ब लेने का उपदेश दिया। तथा, दूसरी ओर, जो (व्यवहारावलम्बी) व्यक्ति इन्हें ही कारण मानकर रुक गया था, उसको आचार्यों ने इनमें कारणत्व का निषेध किन्तु साधनत्व की पुष्टि करते हुए, इनके अवलम्बनपूर्वक आत्म–सम्मुख होने का उपदेश दिया।

इस विषय पर पण्डित टोडरमल जी के विचार *मोक्षमार्गप्रकाशक* के नौवें अधिकार में इस प्रकार मिलते हैं — ***"कारण अनेक प्रकार के होते हैं। . . . कितने ही कारण ऐसे हैं जिनके होने पर कार्य सिद्ध अवश्य ही होता है, और जिनके न होने पर कार्य सिद्ध सर्वथा नहीं होता। जैसे — सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र की एकता होने पर तो मोक्ष अवश्य ही होता है, और उनके न होने पर सर्वथा मोक्ष नहीं होता। . . . कोई कारण ऐसे होते हैं, जिनके***

हुए बिना तो कार्य नहीं होता, और जिनके होने पर कार्य हो, अथवा न भी हो। जैसे — मुनिलिंग धारण किये बिना तो मोक्ष नहीं होता, परन्तु मुनिलिंग धारण करने पर मोक्ष होता भी है और नहीं भी होता। तथा कितने ही कारण ऐसे हैं कि मुख्यतः तो जिनके होने पर कार्य होता है, परन्तु किसी–किसी के बिना हुए भी कार्य सिद्ध हो जाता है। जैसे — अनशनादि बाह्य तप। . . . इस प्रकार ये कारण कहे, उनमें अतिशयपूर्वक नियम से मोक्ष का साधक जो सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र का एकीभाव है, उसे मोक्षमार्ग जानना चाहिये।"

यहाँ पर भी मुनिलिंग और बाह्यतपादिक साधनों के लिये पण्डित जी ने जो कारण शब्द का प्रयोग किया है, वह साधन में कारण का उपचार करते हुए ही ऐसा कहा है। अतः उनको साधन ही मानना चाहिये, कारण नहीं। इसीलिये पण्डित जी ने सातवें अधिकार में, 'निश्चय– व्यवहारालम्बी' प्रकरण के अन्तर्गत, बाह्य अवलम्बनों के कारणपने का निषेध करके साधनपने की स्थापना की है।

नौवें अधिकार में ही आगे जाकर पण्डित जी लिखते हैं — *"अणुव्रत/महाव्रत होने पर देशचारित्र/सकलचारित्र हो अथवा न हो, परन्तु अणुव्रत/महाव्रत हुए बिना देशचारित्र/सकलचारित्र कभी नहीं होता।"* इसका अर्थ हुआ कि **चरणानुयोग के विषयभूत जो अणुव्रत/महाव्रतरूपी साधन हैं, वे देशचारित्र/सकलचारित्ररूपी विशिष्ट आत्मपरिणामों को** (जिनकी उत्पत्ति दो अथवा तीन कषाय–चौकड़ियों के उदय के अभाव की अपेक्षा रखती है) **यद्यपि उत्पन्न नहीं कर सकते; तथापि अणुव्रत/महाव्रत के सद्भाव के बिना भी देशचारित्र/सकलचारित्र का होना असम्भव है।** अतएव जिनके अणुव्रत/महाव्रत नहीं हैं, उनके अप्रत्याख्यानावरण/ प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय का अभाव भी नहीं है — ऐसा सुनिश्चित है।

इसी सन्दर्भ में एक और प्रश्न उत्पन्न होता है — 'प्रवृत्तिरूप आचरण के सहचारी जो परिणाम रागात्मक हैं, अतएव बन्ध के कारण हैं; वे वीतरागता का साधन कैसे हो सकते हैं?' उत्तर है कि सुदेव–शास्त्र–गुरु के आश्रित जो शुभोपयोगरूप आत्मपरिणाम हैं, वे बन्ध का कारण हैं — यह बात सत्य है; तथापि वे वीतरागता का साधन अवश्य हो सकते हैं। उदाहरण के लिये, जैसे व्यापारिक संस्थानों द्वारा विज्ञापनों पर किया जाने वाला व्यय यद्यपि आय का कारण नहीं है, तथापि आय का साधन अवश्य है — क्योंकि विज्ञापनों के माध्यम से बिक्री बढ़ा कर अधिक लाभ कमाया जा सकता है। ऐसे ही, उपयुक्त शुभोपयोग यद्यपि बन्ध का कारण है, तथापि शुद्धोपयोग के लक्ष्य से प्रेरित होकर यदि किया जाता है तो वीतरागता का साधन भी है — इसीलिये इसे 'परम्परया साधन' कहा जाता है। सम्यग्दृश्टि व्यक्ति सुदेव–शास्त्र–गुरु को पूजते हैं, उनकी विनय करते हैं — वे इन्हें रत्नत्रय का साधन मानकर पूजते हैं, पुण्यबन्ध का कारण मानकर नहीं।

जैसा कि अनुच्छेद २.१५ में *समयसार,* गाथा २६५ के विशय में विचार कर आए हैं, श्री अमृतचन्द्राचार्य ने शंकाकार द्वारा प्रश्न उठवाया है कि 'यदि बन्ध ही अध्यवसान का कारण है, तो फिर परवस्तु का त्याग क्यों कराया गया है?' वहाँ उत्तर दिया है कि 'अध्यवसान का आश्रय अथवा आधार परवस्तु होती है, अतः **आधार के त्यागपूर्वक आधेयरूपी अध्यवसान का त्याग कराया है।**' इससे भी स्पष्टतः ध्वनित होता है कि **यद्यपि मात्र बाह्यवस्तु के त्याग से अध्यवसान का त्याग नहीं होता, अर्थात् बाह्यत्याग अध्यवसान के त्याग का कारण नहीं है, तथापि अध्यवसान का त्याग करने के लिये बाह्यत्याग आवश्यक है; बाह्यत्याग के बिना अध्यवसान का त्याग नहीं होता** — बाह्यत्याग को अध्यवसान के त्याग के लिये साधन अवश्य बनाया जा सकता है।

§ २.२४ उपसंहार

ऊपर की गई विस्तृत विचारणा/वि लेशण के परिणामस्वरूप कुछ मुख्य निश्कर्श–बिन्दु नीचे प्रस्तुत किये जाते हैं —

(क) इस जीव की कर्मबद्ध अवस्था अनादिकाल से है; आत्मा के साथ द्रव्यकर्म का निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध भी निरंतर बना हुआ है। मिथ्यादृश्टि जीव के यह बन्ध–पद्धति अनादि से लेकर अटूट चली आ रही है; जैसे कि किसी व्यक्ति को कोई रोग जन्म से हो — ऐसा नहीं कि पहले नीरोग था, और बाद में रोग हो गया हो। अतः अबुद्धिपूर्वक अज्ञानता (अगृहीत मिथ्यात्व–भाव) और कशाय सदा होते ही रहते हैं। जब ऐसा जीव परपदार्थ का अवलम्ब लेकर, उसमें इश्ट–अनिश्टता का आरोपण करके, उसे अपने कशायरूप परिणमन में निमित्त बनाता है, तब इसके भावों की तीव्रता के अनुकूल द्रव्यकषाय की उदीरणा हो जाती है — यही बुद्धिपूर्वक किया जाने वाला रागद्वेष है।

सम्यग्दृश्टि जीवों के भी गुणस्थानों के अनुसार विकारी परिणाम होते रहते हैं। आत्मबल भी गुणस्थानों के अनुसार ही प्रकट होता है। जीव की जो राग–परिणति होती है, वहाँ यथानुकूल कर्म का उदय भी रहता है। बुद्धिपूर्वक राग को करने या न करने के लिये तो यह जीव स्वतन्त्र है। परन्तु, परपदार्थ का बुद्धिपूर्वक अवलम्ब जब यह नहीं लेता, तब भी गुणस्थान के अनुसार इसकी जो राग–परिणति रहेगी उसे ही अबुद्धिपूर्वक उदय कहा जाता है।

(ख) दूसरे प्रकार का निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध इस जीव का अन्य पदार्थों की पर्यायों के साथ होता है। यहाँ यह जीव स्वतन्त्र है कि वह चाहे तो परपदार्थ का अवलम्ब ले अथवा न ले। परपदार्थ के निकट सान्निध्य में उपस्थित होते हुए भी, तथा उस परपदार्थ में अमुक व्यक्ति के विवक्षित कार्य का निमित्तपना होते हुए भी (निमित्तत्व के सामान्य–कथन के अनुसार), वह परपदार्थ उस व्यक्ति–वि ोश के लिये तब तक निमित्त नहीं हो सकेगा जब तक कि वह व्यक्ति उसका सही रूप से अवलम्बन नहीं लेता।

(ग) धर्म, अधर्म, आका ा और काल —— इन चारों द्रव्यों के निमित्तत्व के बारे में अनुच्छेद २.५ में भी विचार कर आए हैं। इनकी उपस्थिति लोक में सर्वत्र ही है, अतः जब जीवादिक पदार्थ हलन–चलन आदि करते हैं तो उन्हें प्रयत्नपूर्वक इन धर्मादिक निमित्तों को खोजकर, इनका अवलम्बन नहीं लेना पड़ता। लोकाकाश की सीमा के भीतर, उपादान द्रव्य जब–जहाँ गति/स्थिति/ परिणमन/अवगाहन करता है, तब–तहाँ तदनुकूल साधारण निमित्त उपलब्ध रहता है। अतः यहाँ निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध स्वतः बन जाता है, बनाना नहीं पड़ता।

(घ) इस प्रकार, ऊपर 'क' से 'ग' तक कहे गए तीनों प्रकार के निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्धों को और उनकी पारस्परिक भिन्नताओं को भली–भाँति समझना ज़रूरी है।

(ङ) चूँकि द्रव्यदृष्टि और पर्यायदृष्टि दोनों एक दूसरे की सम्पूरक हैं और चूँकि दोनों ही दृष्टियों के अविरोधरूप, द्रव्यपर्यायात्मक वस्तुस्वरूप का यथार्थ श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है, इसलिये पक्ष–विशेष के व्यामोह से ऊपर उठकर हमें दोनों ही दृष्टियों की अविरोधरूप, यथार्थ, सम्यक् रीति से चरणानुयोग द्वारा प्रतिपादित विषय को भी समझना चाहिये। द्रव्यदृष्टि की अपेक्षा चरणानुयोग के विषय को ज्ञेय कहा है —— ज्ञान का विषय कहा है, जबकि पर्यायदृष्टि की अपेक्षा चरणानुयोग का विषय आचरणीय है, आचरण–योग्य है। यदि हम केवल एक दृष्टि को ही अपनाकर चरणानुयोग को मात्र ज्ञान का ही विषय मानेंगे, आचरण का विषय नहीं मानेंगे, तब हमारे जीवन में उसकी कोई उपयोगिता स्थापित नहीं हो सकेगी, और न ही हममें आचरण को ग्रहण करने का कोई उत्साह जाग्रत हो सकेगा।

(च) यह सुस्पष्ट है कि प्रमाण का विषय समग्रता को लिये हुए होता है, जबकि नयों का विषय सापेक्षता को लिये हुए। तत्त्व–विवेचना के दौरान हमें यह

सिद्धान्त सर्वत्र प्रयुक्त करना चाहिये, तभी जिज्ञासुओं के प्रश्नों का, शंकाओं का सही समाधान हो सकेगा। विषय चाहे निमित्त–उपादान का हो या निश्चय–व्यवहार का, सामान्य–विशेष का हो द्रव्यदृष्टि–पर्यायदृष्टि का, द्रव्यसंयम– भावसंयम का हो या द्रव्यकर्म–पुरुषार्थ का — सापेक्ष कथन को सम्पूर्ण वस्तुस्वरूप का कथन मानते ही मिथ्या–एकान्त हो जाएगा।

(छ) निमित्ताधीनदृष्टि का अर्थ है 'मिथ्या' दृष्टि। जो जीव निमित्त को कर्ता मानता है, उसकी दृष्टि, उसका दर्शन 'निमित्ताधीन' है। जीव की ऐसी दृष्टि ही अनन्तानुबन्धी कषाय को जन्म देती है। आगम में — विशेषतः करणानुयोग और चरणानुयोग में — निमित्त को उपचार से कर्ता कहकर वर्णन किया गया है। जहाँ भी हमें ऐसा वर्णन दृश्टिगोचर हो, वहाँ हमें विवेकपूर्वक उस परवस्तु के निमित्तपने को तो यथार्थ समझना चाहिये, जबकि कर्तापने को उपचार समझना चाहिये — क्योंकि निमित्त परद्रव्य की पर्याय है, अतः वह अन्यद्रव्य का कर्ता नहीं हो सकती। *समयसार* में निमित्त को कर्ता मानने वाले व्यक्ति को सांख्यमतावलम्बी कहा गया है, चाहे वह अर्हंतदेव का मतानुयायी मुनि ही क्यों न हो। लोक–व्यवहार में चूँकि उपचार की प्रधानता से ही अधिकांशतः कथन किये जाते हैं, इसलिये वहाँ कह दिया जाता है कि 'फलाँ आदमी ने या फलाँ चीज़ ने हमारा कार्य कर दिया' अथवा 'फलाँ आदमी की या फलाँ चीज़ की वज़ह से हमारा कार्य हो गया'। वहाँ भी सुस्पष्टतया यह समझना चाहिये कि यह सब कथन उपचार है, अतएव अयथार्थ है — क्योंकि परवस्तु/निमित्त कभी भी अन्यद्रव्य के कार्य का कर्ता नहीं हो सकता।

(ज) अगर शुरुआत भी करनी है मोक्षमार्ग में, तो हमारे लिये यह नितान्त अनिवार्य है कि जिनसिद्धान्त के आलोक में न्याय, युक्ति और तर्क के आधार पर हम अपनी उन समस्त लौकिक मान्यताओं का भलीभाँति परीक्षण करें, पूरी ईमानदारी और बारीक़ी से उनका विश्लेषण करें, जिनको कि हम पूर्व–अभ्यासवश, अनजाने या अनायास ही, मोक्षमार्ग के क्षेत्र में आयात (import) कर लेते हैं — बग़ैर उनकी तर्कसंगति या युक्तियुक्तता का कोई प्रश्न उठाए। और फिर, ऐसे विश्लेषण के निष्कर्षस्वरूप जहां कहीं भी हम पाएं कि हमारी अमुक मान्यता युक्तिसंगत नहीं है, वहीं हम अविलम्ब उसको त्यागने का और उसके स्थान पर उस विषय की सम्यक् व युक्तियुक्त मान्यता को अपनाने का साहस करें। तभी हमारे जीवन में सम्यक् रूपान्तरण के घटित होने की सम्भावना बन सकेगी, अन्यथा नहीं।

(झ) ऊपर की विस्तृत विचारणा के दौरान हमने देखा कि कार्य के होने में निमित्त और उपादान, दोनों का अपना–अपना स्थान है। जब वस्तुस्वरूप इस प्रकार है तो विवक्षित कार्य को सम्पन्न करने के लिये, दोनों प्रकार के हेतुओं में से जिस ओर कमी हो उसकी पूर्ति हमें अपने जीवन में करनी चाहिये। यदि निजकार्यानुकूल निमित्त उपलब्ध नहीं है तो चेष्टापूर्वक उसे ढूँढकर — उसका संयोग प्राप्त करके — उसका अवलम्ब लेना चाहिये; इसी प्रकार, जो निमित्त निज कार्य के प्रतिकूल पड़ते हों, उनसे हटना चाहिये। तथा, दूसरी ओर, अपने साध्य का निर्णय बुद्धि के स्तर पर कर लेने के बाद भी यदि हम पाते हैं कि हमारा उपादान तदनुरूप नहीं है तो अपने में उस अनुरूपता को विकसित करने का सम्यक् प्रयत्न हमें करना चाहिये। निज साध्य/कार्य को सम्पन्न करने का यही समीचीन पुरुषार्थ है।

अन्ततः, अतिसंक्षेप में कहें तो, निष्कर्ष यह है कि मोक्षमार्ग के सन्दर्भ में हमें अपने साध्य/कार्य में उपयुक्त/अनुकूल पड़ने वाली परवस्तु/निमित्त का अवलम्ब लेकर — किन्तु उसे कर्ता समझने की अपनी भूल का भली–भाँति सुधार करते हुए — अपने आत्मबल को बढ़ाने का सम्यक् पुरुषार्थ करना चाहिये, ताकि फिर किसी भी परद्रव्य के अवलम्बन की आवश्यकता हमें न रहे और हम पूर्ण स्वाधीन हो जाएँ।

।। निमित्तविशयक भांका–समाधान ।।

प्र न १ : ऊपर, लेख में कहा गया है कि निमित्त किसी कार्य का कर्ता नहीं होता, और वह कार्य को कराता भी नहीं — तो फिर कार्य के होने में निमित्त की क्या कोई भी अपेक्षा है, या कि वह सर्वथा अकिंचित्कर है?

उत्तर : मोक्षमार्ग के सन्दर्भ में, विवक्षित कार्य के होने में निमित्त सहायता या मदद नहीं करता, **इस दृश्टि से यद्यपि अकिंचित्कर है; तथापि उपादान उसकी (निमित्त की) सहायता लेता है, इसलिये उसकी अपेक्षा भी है।**

प्र न २ : 'जब कार्य होगा तो निमित्त वहाँ पर अव य उपस्थित होगा' — क्या यह कहना ठीक है?

उत्तर : हाँ, यह बात ठीक है कि जब कार्य होता है तो निमित्त वहाँ पर होता ही है — **परन्तु यह तो ठीक जिस क्षण कार्य हो रहा होता है, बिल्कुल**

उसी क्षण की वस्तुस्थिति का कथन है। कार्य होने से पहले तो जिस जीव को अपना वांछित कार्य करना है, वह उस कार्य के अनुकूल निमित्त को जुटाने के लिये प्रयत्न अव य करता है। फलस्वरूप, जब कार्य होता है तब निमित्त–उपादान दोनों ही मौजूद होते हैं और उपादान/जीवद्रव्य निमित्त का आश्रय लेता है। अपनी उपस्थिति मात्र से कोई पदार्थ 'निमित्त' नहीं कहलाता, प्रत्युत उसका आश्रय या अवलम्ब लेना होता है।

प्र न ३ : निमित्त को खोजना पड़ता है या वह स्वयमेव उपस्थित हो जाता है?

उत्तर : दोनों ही प्रकार की स्थितियाँ सम्भव हैं। **अधिकां ातः तो जीव को 'कार्यानुकूल' निमित्त को खोजना पड़ता है, और कभी–कभी ऐसे निमित्त का संयोग अनायास भी हो जाता है।** परन्तु **हमें मोक्षमार्ग के अनुकूल निमित्तों** को जुटाने का — अर्थात् उनका संयोग प्राप्त करने का — प्रयत्न करना चाहिये, उन**की 'स्वयमेव उपस्थिति' की प्रतीक्षा में बैठे नहीं रहना चाहिये।**

प्र न ४ : निमित्त को जुटाने से क्या होगा, कार्य तो जब होना है तभी होगा?

उत्तर : पण्डितप्रवर टोडरमलजी ने *मोक्षमार्गप्रका ाक* में लिखा है कि बुद्धिपूर्वक जुटाए जाने योग्य निमित्त तो चेश्टा करके ही जुटाए जाते हैं, और अबुद्धिपूर्वक जुटने लायक निमित्त (कर्मोदय आदि के अनुसार) अपने–आप आकर जुट जाएँ, संयोग को प्राप्त हो जाएँ, तो कार्य सम्पन्न होता है।

प्र न ५ : यह कहने में क्या आपत्ति है कि निमित्त के बिना कार्य नहीं होता?

उत्तर : 'निमित्त के बिना कार्य नहीं होता' — यह कथन ठीक है, परन्तु उपादान ही निमित्तत्वरूपी योग्यता रखने वाले किसी पदार्थ को निज कार्य के लिये निमित्त बनाता है। अतः वस्तुस्थिति का एक पक्ष यह भी है कि **योग्य निमित्त के उपस्थित होने पर भी, उसका संयोग प्राप्त कर लेने पर भी, जब तक जीवरूपी उपादान विवक्षित कार्य के अनुरूप तैयार नहीं होता तब तक कार्य नहीं होता।** जैसे — 'मुनिव्रत धारण किये बिना मोक्ष प्राप्त नहीं होता', यह बात ठीक है; परन्तु, मुनिव्रत धारण करके, जीव/उपादान को मोक्षप्राप्ति के पुरुशार्थ में निरन्तर तत्पर रहना चाहिये। अतः उक्त कथन उपादान की तैयारी की सम्यक् सापेक्षता को लिये हुए है।

प्र न ६ : निमित्त के अनुसार कार्य होता है या कार्य के अनुसार निमित्त होता है?

उत्तर : मोक्षमार्ग के सन्दर्भ में, कार्य के लिये निमित्त होता है — निमित्त के लिये कार्य नहीं होता।

प्र न ७ : क्या एक पदार्थ अनेक कार्यों के लिये भी निमित्त हो सकता है?

उत्तर : हाँ, एक ही पदार्थ को भिन्न–भिन्न व्यक्ति अपने–अपने उपादान की योग्यता और रुचि के अनुसार भिन्न–भिन्न कार्यों का निमित्त बना लेते हैं। ज्ञानी जीव के लिये जिन–प्रतिमा सम्यक्चारित्र का निमित्त है, सम्यक्त्व के

सम्मुख मिथ्यादृश्टि के लिये वह भेदविज्ञान या सम्यग्द ान का निमित्त है, जबकि व्यवहारालम्बी व्यक्ति उसे पुण्यबन्ध का निमित्त बनाता है। कोई ि ाल्पी पाशाण को नासाग्रदृश्टियुत् आकृति में ऐसी कलात्मक भौली से तरा ाता है, मानो कि मूर्तिमन्त भेदविज्ञान सामने उपस्थित हो; तो एक चोर किसी भिन्न ही प्रयोजन से — चोरी के अ ाुभ प्रयोजन से — प्रतिमा का अवलम्ब लेता है।

प्रश्न ८ : जिनबिम्ब में किसी कर्ता–धर्ता, रागी–द्वेषी, काल्पनिक 'ईश्वर' के दर्शन कर लेने वाले व्यक्ति के लिये, क्या ऐसी अनुकूलता भी जिनबिम्ब में है?

उत्तर : ऐसा व्यक्ति कथित देवदर्शन की क्रिया करते समय जिस मनुष्याकृति का अवलम्ब लेता है, वह तो जिनबिम्ब में अवश्य विद्यमान है। परन्तु, उस आकृति के लक्षणस्वरूप नासाग्रदृष्टि, वीतरागता, आत्मलीनता आदि गुणों के विपरीत पड़ने वाले जो कर्ता–धर्तापना अथवा रागी–द्वेषीपना आदि अवगुण हैं, उनका उस जिनमुद्रा में नितान्त अभाव है; उन्हें तो वह व्यक्ति अपनी स्वयं की ही — गृहीत अथवा अगृहीत — मिथ्या–मान्यताओं/कल्पनाओं से वहाँ आरोपित करता है, जिनबिम्ब की उसमें कोई भूमिका नहीं है।

प्र न ९ : निमित्त जुटाने के उपदे ा से क्या दृश्टि बहिर्मुख नहीं हो जाती? और, चेश्टापूर्वक निमित्त जुटाना क्या 'पर–कर्तृत्व' का सूचक नहीं है?

उत्तर : ऐसा नहीं है — निमित्त जुटाने का उपदे ा उन्हीं जीवों को दिया गया है जो निरंतर संसार– ारीर–भोगों में लगकर कशायों की पुश्टि कर रहे हैं। ऐसे जीवों को 'अ ाुभ निमित्तों' से हटाने के हेतु उन्हें ऐसे पदार्थों का अवलम्ब छोड़ने का और ' ाुभ निमित्तों' का अवलम्ब ग्रहण करने का उपदे ा दिया है; जिससे कि उनके अन्तरंग में भाुद्धोपयोग की महिमा और उसके प्रति रुचि जाग्रत होने की सम्भावना बने। **निमित्तों को जुटाना अर्थात् प्रयत्नपूर्वक उनका संयोग प्राप्त करना 'पर–कर्तृत्व' का सूचक नहीं, अपितु कार्यसिद्धि का एक बहिरंग उपाय है।**

प्र न १० : क्या निमित्त भी इश्ट अथवा अनिश्ट होते हैं?

उत्तर : नहीं, पर–पदार्थ कभी भी किसी को इश्ट अथवा अनिश्ट नहीं होता। जीव का वीतरागतारूप परिणमन ही वस्तुतः इश्ट है, जबकि राग–द्वेशरूप परिणमन अनिश्ट है। **कशायों की वृद्धि में जो पदार्थ निमित्त पड़ता है, उसे उपचार से 'अनिश्ट' कह दिया जाता है; और कशायों की मन्दता में जो निमित्त होता है, उसे उपचार से 'इश्ट' कह दिया जाता है।** अथवा जिसका अवलम्ब लेकर हम अपना इश्ट कार्य कर लेते हैं, उसे 'इश्ट निमित्त' कहते हैं, और जिसका अवलम्ब लेने पर हमारा कार्य विपरीत हो जाता है, उसे 'अनिश्ट निमित्त' कहते हैं।

प्र न ११ : जब निमित्त राग–द्वेश नहीं करा सकता, तब उससे बचने का उपदे ा क्यों दिया गया है?

उत्तर : पर–पदार्थ हमारे राग–द्वेश का कर्ता नहीं हो सकता — यह बात ठीक है, परन्तु **पर–पदार्थ के संयोग के सद्भाव में चूँकि आत्मबल के अभाव के कारण हम उसका अवलम्ब लेकर राग–द्वेश कर लेते हैं, अतः ऐसे पर–पदार्थों से बचना आव यक है; परद्रव्य को अनिश्ट मानकर नहीं, अपितु अपने में आत्मबल का अभाव मानकर बचना आव यक है** (क्योंकि उसके सद्भाव में हम अपने परिणामों पर नियन्त्रण नहीं रख पाते)। इसी प्रकार, हम 'ुभ निमित्तों' का संयोग प्राप्त करने की चेश्टा करते हैं — इसलिये नहीं कि वह हमारा कल्याण कर देगा, बल्कि इसलिये कि उसका अवलम्ब लेकर यदि हम अपने परिणामों को सुधार कर अपना कल्याण करना चाहें तो कर सकते हैं।

प्र न १२ : आत्मा तो परद्रव्य के ग्रहण–त्याग से रहित है, फिर निमित्त को जुटाने या हटाने का प्र न ही कहाँ उत्पन्न होता है?

उत्तर : यह बात ठीक है कि द्रव्यदृश्टि की अपेक्षा यह आत्मा परद्रव्य का ग्रहण अथवा त्याग नहीं कर सकता। परन्तु **निमित्त को जुटाना या हटाना तो पर्यायदृश्टि का विशय है, अतः द्रव्यदृश्टि की अपेक्षा इस बात पर विचार करना असंगत होगा।** पर्यायदृश्टि से हम परद्रव्य का ग्रहण/संचय भी करते हैं, उसका त्याग भी करते हैं, और उसका परिमाण भी करते हैं। पर्यायदृश्टिविशयक इस सत्य को स्वीकार नहीं करने से व्रत, नियम, संयम आदि का निशेध हो जाएगा।

प्र न १३ : आचार्य ने जो कहा है कि निमित्त धर्मद्रव्यवत् उदासीन है, इससे क्या तात्पर्य है?

उत्तर : निमित्त कर्ता नहीं होता, यही द र्ाने के लिये आचार्य ने उसे धर्मद्रव्यवत् कहा है।

प्र न १४ : पण्डित बनारसीदासजी और भैया भगवतीदासजी के निमित्त–उपादान सम्बन्धी दोहों का क्या अर्थ लगाना चाहिये?

उत्तर : उनमें निमित्त को कर्ता मानने का निशेध किया गया है, निमित्त को निमित्त मानने का नहीं; अतः वे सापेक्ष कथन हैं।

प्र न १५ : निमित्त का उपकार अथवा अपकार मानें या नहीं?

उत्तर : जहाँ तक उपकार का प्र न है — हमने अपना कार्य स्वयं किया है; तो भी, चूँकि निमित्त के अवलम्बनपूर्वक किया है, इसलिये ि ाश्टाचार के नाते हम उसका उपकार मानते हैं, और मानना भी चाहिये। उपकार की ही भाँति उपकार भी निमित्त ने नहीं किया — हमने स्वयं ही उसका अवलम्ब लेकर अपना अहित कर लिया; अतः उससे द्वेश करने का तो प्र न ही पैदा

नहीं होता। किन्तु, आत्मबल के अभाव में 'प्रतिकूल निमित्तों' से दूर रहना भी आव यक है — इसलिये नहीं कि वह हमारा कुछ अहित कर देगा, बल्कि इसलिये कि उसका अवलम्ब लेकर हम स्वयं अपना अहित न कर लें।

प्र न १६ : निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध और कर्ता–कर्म सम्बन्ध में क्या अन्तर है?

उत्तर : (1) कर्ता–कर्म सम्बन्ध सदैव एक ही द्रव्य में होता है, जबकि निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध सदैव दो द्रव्यों की पर्यायों में होता है। (2) निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध के सन्दर्भ में, कार्य–अनुकूल निमित्त के साथ–साथ उपादान का भी तदनुरूप परिणमन ाक्ति से युक्त होना आव यक है — तभी कार्य निश्पन्न हो सकता है, अन्यथा नहीं।

प्र न १७ : समयसार में जीव को अपने 'ज्ञान–द ान का कर्ता' बतलाया है। उसमें 'यः परिणमति . . . ' वाली परिभाशा कैसे घटित होगी?

उत्तर : समयसार में कर्ता–कर्म सम्बन्ध का कथन दो भिन्न–भिन्न दृश्टियों से किया गया है — द्रव्यदृश्टि से, और पर्यायदृश्टि से। द्रव्यदृश्टि से यह जीव अपने ज्ञान–द ान स्वभाव का कर्ता है; अपने ज्ञान–द ान गुणों के साथ इसका नित्य–तादात्म्य है। दूसरी ओर, पर्यायदृश्टि से यह जीव अपने परिणामों का कर्ता है; अपने परिणामों के साथ इसका अनित्य–तादात्म्य है। नित्यतादात्म्य/ अभेद को प्राप्त द्रव्य और उसके गुणों के बीच भेददृष्टि की मुख्यता से, नित्यतादात्म्य में कर्ता–कर्म सम्बन्धरूपी भेदात्मक उपचार करते हुए, आचार्यों ने द्रव्यदृश्टिविशयक कर्ता–कर्म सम्बन्ध का कथन जहाँ किया है, वहाँ उनका प्रयोजन जीव की निज विकारी पर्यायों में एकान्त–कर्तृत्वबुद्धि को छुड़ाने का रहा है ('तू तो मात्र अपने ज्ञान–द ान का कर्ता है, रागादिक का नहीं' इस प्रकार स्वभाव को प्रतिपादित करने वाली द्रव्यार्थिक दृश्टि की प्रधानतापूर्वक कथन करके)।

दूसरी ओर 'यः परिणमति . . . ' वाली परिभाशा पर्यायदृश्टि से की गई है। वहाँ, द्रव्य और उसकी वर्तमान पर्याय में भेददृश्टि की मुख्यता से द्रव्य को स्वयं की पर्याय का कर्ता बतलाया है।

प्र न १८ : जब निमित्त कर्ता नहीं होता, तब 'उसकी उपस्थिति मात्र है' — ऐसा कहने से क्या निमित्तपने की ठीक परिभाशा हो जाएगी?

उत्तर : नहीं, 'केवल उपस्थिति' निमित्तपने की सही/सम्यक् व्याख्या नहीं करती। केवल भौतिकरूप से उपस्थिति (mere physical presence) होने से कोई परपदार्थ 'निमित्त' नहीं हो जाता, किन्तु उपादान को उसका अवलम्बन लेना होता है। अब दो सम्भावनाएँ बनती हैं — (1) कार्यानुकूल परपदार्थ वर्तमान में उपस्थित हो और उपादान उसका अवलम्ब लेकर

परिणमे; अथवा (2) परपदार्थ वर्तमान में साक्षात् रूप से उपस्थित न भी हो, किन्तु उपादान अपनी स्मृति के द्वारा उसे अपने उपयोग में उपस्थित करके, उसके अवलम्बपूर्वक परिणमे। जैसे कि पूर्व में भोगे गए भोगों के स्मरणपूर्वक यह जीव पुनः राग–द्वेशरूप परिणाम कर लिया करता है। इसी प्रकार, पूर्व में पढ़े हुए जिनागम के स्मरण–मननपूर्वक यह जीव अपने परिणामों की वर्तमान में सँभाल भी कर सकता है।

हमारे चारों ओर सदाकाल असंख्य पदार्थ उपस्थित रहते हैं, किन्तु 'निमित्त' हम उसी को कह सकते हैं जिसका कि हम अपने वांछित कार्य के लिये अवलम्बन लेते हैं — और, इस प्रकार, उसे 'निमित्त' बनाते हैं। केवल धर्म–अधर्म–आका ा–काल द्रव्यों के सन्दर्भ में ही ऐसा है कि गति, स्थिति आदि के हेतु उनका प्रयत्नपूर्वक अवलम्ब नहीं लेना पड़ता।

प्र न १६ : द्रव्यसंयम और भावसंयम के बीच निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध है या नहीं?

उत्तर : द्रव्यसंयम के बिना भावसंयम नहीं होता, जबकि भावसंयम के बिना द्रव्यसंयम कार्यकारी नहीं होता; कहीं–कहीं दोनों साथ–साथ भी हो जाते हों, परन्तु अधिकां ातः द्रव्यसंयमपूर्वक ही भावसंयम होता है। चरणानुयोग के सन्दर्भ में सर्वत्र यही वस्तुस्थिति है।

'द्रव्यसंयम धारण करने से भावसंयम हो जाएगा' — ऐसा नहीं है; परन्तु भावसंयम के लिये द्रव्यसंयम का होना आव यक है; ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार कि 'देव– ाास्त्र–गुरु के श्रद्धान से सम्यक्त्व हो जाएगा' — ऐसा नहीं है, परन्तु सम्यक्त्व के लिये देव– ाास्त्र–गुरु का श्रद्धान होना आव यक है।

बाह्य वस्तु बन्ध का कारण नहीं है, अपितु जीव के द्वारा उठाए गए राग–द्वेशात्मक विकल्प ही वास्तव में बन्ध का कारण हैं। अब चूँकि विकल्प सदैव बाह्य वस्तु का आश्रय लेकर होते हैं, इसलिये विकल्पों के त्याग के लिये बाह्य वस्तु का त्याग आव यक है। यद्यपि बाह्य वस्तु हमारे विकल्पों को पैदा नहीं कराती, तथापि बाह्य वस्तु का अवलम्ब लिये बिना हमारे चित्त में विकल्प नहीं उठते।

'बाह्य वस्तु के त्याग मात्र से विकल्प टूट जाएं' — ऐसा नहीं है, परन्तु विकल्पों को तोड़ने के लिये बाह्य वस्तु का त्याग आव यक है; और हम सभी जानते हैं कि विकल्पों का अभाव ही भावसंयम है। अतः द्रव्यसंयम से यद्यपि भावसंयम नहीं होता, तथापि भावसंयम के लिये द्रव्यसंयम का होना आव यक है, अपरिहार्य है — द्रव्यसंयम को भावसंयम का 'साधन' तो अव य बना सकते हैं, किन्तु वह 'कारण' नहीं होता है।

प्र न २० : गाली देने वाले व्यक्ति ने क्या क्रोध नहीं कराया?

उत्तर : नहीं, हमारी अज्ञानमूलक मान्यता ही ऐसी हो रही है कि 'यदि कोई गाली दे तो क्रोध करना चाहिये।' यही कारण है कि ऐसा संयोग जुड़ते ही, अपनी पूर्वनिर्मित धारणा के व ाीभूत हुए हम बिना कुछ सोचे–समझे क्रोधित हो जाते हैं, और सोचते यह हैं कि 'उसने क्रोध करा दिया।' निमित्त पर कर्तापने का मिथ्या आरोपण करने वाली, उस पर अपने रागद्वेशरूप परिणमन का दायित्व थोपने वाली इस दृश्टि को ही निमित्ताधीन दृश्टि कहा जाता है।

यदि देखा जाए कि गाली देने वाले ने क्या किया, तो वस्तुतः उसने तो केवल अपना परिणमन किया। हमने ही अपने ज्ञानस्वभाव से हटकर उसे सुनने में अपना उपयोग लगाया, और सुनकर उसमें अनिश्टता की कल्पना की। हमारा क्रोधमय परिणमन हमारी उसी अनिश्टतारूपी कल्पना का फल है। यदि हम गाली को न सुनते, अथवा उसे अनसुनी कर देते, या फिर उसमें अनिश्टत्व की कल्पना नहीं करते, तो हमारा क्रोधरूप परिणमन नहीं होता।

अतः गाली ने वास्तव में क्रोध नहीं कराया, बल्कि उसका अवलम्ब लेकर हमने स्वयं क्रोध किया — यही सम्यक् वस्तुस्थिति है। इस सत्य को स्वीकार करने से गाली देने वाले में हमारी द्वेशबुद्धि नहीं होगी, प्रत्युत हम उदासीन या भाान्त रहने का पुरुशार्थ करेंगे — यही हमारा सम्यक् पुरुशार्थ होगा। इसके विपरीत, यदि हम निमित्त को दोशी मानेंगे तो उससे द्वेश अव य करेंगे; और अपनी इस मान्यता के फलस्वरूप उसे ठीक करने की अनधिकार व निश्फल चेश्टा करेंगे।

प्र न २१ : क्या 'निमित्त' हमें सुखी–दुःखी कर सकता है?

उत्तर : नहीं, हमारा दुःख–सुख हमारे अपने कशायमय अथवा निश्कशाय परिणमन से होता है, निमित्त के कारण नहीं। अपने में आत्मबल की कमी के कारण, चूँकि हम निमित्त से अप्रभावित नहीं रह पाते और उसका अवलम्ब लेकर कशायरूप परिणम जाते हैं, इसलिये हमें यह भ्रम हो जाता है कि निमित्त ने हमें दुःखी–सुखी किया। उससे प्रभावित होना या न होना वस्तुतः हमारे अपने ऊपर निर्भर है।

प्र न २२ : क्या 'निमित्त' हमारा लौकिक हित–अहित कर सकता है?

उत्तर : नहीं, परपदार्थरूपी निमित्त तो मात्र एक माध्यम है; असल में तो हमारे पुण्य–पापकर्म का उदय ही लौकिक हित–अहित में निमित्त होता है।

प्र न २३ : यह क्यों कहा गया है कि 'परावलम्बन से स्वावलम्बन नहीं होगा, बल्कि स्वावलम्बन से ही स्वावलम्बन होगा'?

उत्तर : प्राथमिक अवस्था में परावलम्बन से ही स्वावलम्बन की भावना जाग्रत की जाती है — आगे चलकर, इस प्रकार जाग्रत की गई वह स्वावलम्बन की भावना पुनः अधिक स्वावलम्बन को बढ़ाने के लिये प्रेरित करती है। जैसे

कि प्राथमिक अवस्था में भाास्त्र–अध्ययन से आत्मभावना जाग्रत ही जाती है, और आगे चलकर वही आत्मभावना आत्मानुभवन के लिये प्रेरित करती है। जो लोग आगम के अध्ययन का अवलम्ब लिये बिना कोरी आत्मभावना की बात करते हैं, उन्हें तो आगम का अवलम्बन लेने का उपदे ा दिया गया है; और जो लोग सिर्फ़ भाास्त्र–अध्ययन में ही लगे हुए थे, उन्हें 'स्वावलम्बन से ही स्वावलम्बन होगा' — ऐसा उपदे ा दिया है।

प्र न २४ : चावल है वह अग्नि और जल का निमित्त मिलने पर पकेगा या स्वयं अपने उपादान की योग्यता से पकेगा?

उत्तर : कोई भी कार्य स्व–पर या उपादान–निमित्त, दोनों की अपेक्षापूर्वक होता है, अतः जहाँ भी कार्य होगा वहाँ निमित्त और उपादान, दोनों ही होंगे। अग्नि व जल के बिना चावल पक जाएं, यह सम्भव नहीं है; तथा, दूसरी ओर, चावल में पकने की सामर्थ्य न हो और अग्नि व जल उसे पका दें — ऐसा भी नहीं है।

जब उपादान की मुख्यता से कथन करते हैं कि 'चावल अपनी भाक्ति से पका, निमित्त ने क्या किया', तब उसका अभिप्राय है कि जो निमित्त है वह उपादान की आभ्यन्तर भाक्ति का कर्ता नहीं हो सकता। दूसरी ओर, जब निमित्त की मुख्यता से कथन करते हैं तो कहते हैं कि विवक्षित कार्य निमित्त के बिना नहीं हुआ। कार्य तो वस्तुतः निमित्त और उपादान, दोनों की समग्रता में ही होता है — यही कथन प्रमाणभूत है। उपादान की मुख्यता वाला जो कथन है वह निमित्त की अपेक्षा को लिये हुए है; और निमित्त की मुख्यता वाला जो कथन है वह उपादान की अपेक्षा रखता है।

प्र न २५ : जीवन में उपादान की मुख्यता लेकर चलें या निमित्त की?

उत्तर : मोक्षमार्ग में उपादान की मुख्यता होती है, अतः उसी की मुख्यता को लेकर चलना चाहिये। हाँ, संसार में अव य निमित्त की मुख्यता हुआ करती है — 'निमित्त' से यहाँ तात्पर्य द्रव्यकर्मों से है, और उनमें भी मुख्यरूप से चार अघातियाकर्मों से, जिनके उदय के अनुसार जीवन में विभिन्न प्रकार की अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितियाँ अर्थात् सुख–दुःख की बाह्य सामग्री, इश्ट–अनिश्ट संयोग–वियोग आदि उपस्थित होती हैं। इस दृश्टि से जब हम देखते हैं तो पाते हैं कि जीवन का समस्त लौकिक कार्य कर्मों ने भली–भाँति सँभाल रखा है और हमारे करने के लिये कुछ भी नहीं है — सिवाय इसके कि हम बाह्य पदार्थों/परिस्थितियों में कर्तृत्व का राग छोड़कर ज्ञाता–द्रश्टारूप रहें।

पुन च, निश्कर्श यह कि मोक्षमार्ग के सन्दर्भ में, आत्म–कल्याण के निमित्तों का अवलम्बन लेकर हमें अपने परिणामों को सरल करना चाहिये। रागादिक के

निमित्तों से दूर रहकर स्वयं को कशायरूप परिणमन से बचाना चाहिये, तथा आत्महित के निमित्तों के अवलम्बपूर्वक आत्मबल बढ़ाने का पुरुशार्थ करना चाहिये। जैसे–जैसे आत्मबल बढ़ता जाएगा, वैसे–वैसे निमित्तों का अवलम्ब लेने की आव यकता भी कम होती जाएगी।

'निमित्त ने मुझे अपने आधीन कर रखा है' — यह 'मिथ्या' दृश्टि है। 'मैं निमित्त के या पर के आधीन हो रहा हूँ' — यह चारित्रमोह है। और, 'मैं अपने में हूँ' — यह मोक्षमार्ग है। 'निमित्त ने मेरा इश्ट–अनिश्ट किया' — यह मिथ्यात्व है। 'मैंने पर का अवलम्ब लेकर अपना हित–अहित किया' — यह चारित्रमोह है। और, 'मैं अपने आप में स्थिर हो गया हूँ' — यह मोक्षमार्ग है, तथा इसकी निर्विकल्प पूर्णता ही मोक्ष है।